विवेक-ज्योति

• हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

वर्ष : १८
अंक : १

प्रति अंक १॥)
वार्षिक शुल्क ५)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

१९८०

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म० प्र०)

दूरभाष : २४५८९

दिव्य रामायण
स्वामी अपूर्वानन्द कृत

(हिन्दी में अपने ढग की अपूर्व पुस्तक)

लेखक ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक सस्कृत, पालि, बँगला, हिन्दी मराठी, तमिल, तेलुगु एव तिब्बती भाषाओं में रचित तथा बौद्ध जातक, जैन रामायण एवं पुराणों में प्राप्त रामकथा मन्दाकिनी की बिखरी बहुविध धाराओं को एक ही स्थानपर एकत्रित किया है और अपने गवेषणापूर्ण पाण्डित्य से प्रस्तुत ग्रन्थ को मानो सुललित राम-कथा-कोश के रूप में परिणत कर दिया है।

नया द्वितीय संस्करण मूल्य–११), डाकखर्च ६)

*

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

– 'विवेक-ज्योति' विषयक ब्यौरा

१. प्रकाशन का स्थान –रायपुर

२. प्रकाशन की नियत्कालिता –त्रैमासिक

३–५. मुद्रक, प्रकाशक एव सम्पादक –स्वामी आत्मानन्द

राष्ट्रीयता –भारतीय

पता –रामकृष्ण मिशन, रायपुर

६. स्वत्वाधिकारी –रामकृष्ण मिशन बेलुडमठ,

स्वामी वीरेश्वरानन्द, स्वामी निर्वाणानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी अभयानन्द, स्वामी दयानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी रगनाथानन्द, स्वामी तपस्यानन्द स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द स्वामी आदिदेवानन्द स्वामी गीतानन्द

मै, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) स्वामी आत्मानन्द

अनुक्रमणिका

—: ० :—

कवर चित्र परिचय : स्वामी विवेकानन्द

The book has been published on the paper supplied by the Government of India at concessional rate

मुद्रणस्थल : संजीव प्रिंटिंग प्रेस, नागपुर

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

वर्ष १८] ★ १९८० ★ [अंक १

योगी पुरुष का वर्तन

शान्तो दान्तः परमुपरतः क्षान्तियुक्तः समाधिं
कुर्वन्नित्यं कलयति यतिः स्वस्य सर्वात्मभावम् ।
तेनाविद्यातिमिरजनितान्साधु दग्ध्वा विकल्पान्
ब्रह्माकृत्या निवसति सुखं निष्क्रियो निर्विकल्पः ।।

——योगी पुरुष चित्त की शान्ति, इन्द्रियनिग्रह, विषयों से उपरति और क्षमा से युक्त होकर समाधि का निरन्तर अभ्यास करता हुआ अपने सर्वात्मभाव का अनुभव करता है और उसके द्वारा अविद्यारूप अन्धकार से उत्पन्न हुए समस्त विकल्पों का भलीभाँति ध्वंस करके निष्क्रिय और निर्विकल्प होकर आनन्दपूर्वक ब्रह्माकार-वृत्ति से रहता है ।

—— विवेकचूड़ामणि, ३५६

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९ वाँ रास्ता,
न्यूयार्क
१७ फरवरी, १८९६

प्रिय आलासिंगा,

...काम बहुत कठिन है; जैसे जैसे काम की वृद्धि हो रही है, वैसे वैसे काम की कठिनता भी बढ़ती जा रही है। मुझे विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता मालूम पड़ रही है। परन्तु इंग्लैण्ड में एक बड़ा काम मेरे सामने है।...वत्स, धीरज रखो, काम तुम्हारी आशा से बहुत ज्यादा बढ़ जायगा।... हर एक काम में सफलता प्राप्त करने से पहले सैकड़ों कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जो उद्यम करते रहेंगे, वे आज या कल सफलता को देखेंगे। ...न्यूयार्क को, जो अमेरिकन सभ्यता का एक प्रकार से हृदय है जगाने में मैंने सफलता प्राप्त की है। परन्तु यह एक बहुत ही भीषण संघर्ष रहा।... जो मुझमें शक्ति थी, मैंने उसे न्यूयार्क और इंग्लैण्ड पर प्रायः न्यौछावर कर दी। अब काम सुचारु रूप से चल रहा है।

हिन्दू भावों को अंग्रेजी में व्यक्त करना, फिर

शुष्क दर्शन, पेचीदी पौराणिक कथाएँ, और अनूठे आश्चर्यजनक मनोविज्ञान से एक ऐसे धर्म का निर्माण करना, जो सरल, सहज और लोकप्रिय हो और उसके साथ ही उन्नत मस्तिष्कवालों को सन्तुष्ट कर सके—— इस कार्य की कठिनाइयों को वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने इसके लिए प्रयत्न किया हो। अद्वैत के गूढ़ सिद्धान्तों में नित्य प्रति के जीवन के लिए कविता का रस और जीवनदायिनी शक्ति उत्पन्न करनी है; अत्यन्त उलझी हुई पौराणिक कथाओं में से साकार नीति के नियम निकालने हैं; और बुद्धि को भ्रम में डालनेवाली योग-विद्या से अत्यन्त वैज्ञानिक और क्रियात्मक मनोविज्ञान का विकास करना है—— और इन सबको एक ऐसे रूप में लाना पड़ेगा कि बच्चा बच्चा इसे समझ सके। मेरे जीवन का यही कार्य है। परमात्मा ही जानता है कि कहाँ तक यह काम मैं कर पाऊँगा। 'कर्म करने का हमें अधिकार है, उसके फल का नहीं।' परिश्रम करना है, वत्स, कठिन परिश्रम ! काम-कांचन के इस चक्कर में अपने आपको स्थिर रखना, और अपने आदर्शों पर जमे रहना, जब तक कि आत्मज्ञान और पूर्ण त्याग के साँचे में शिष्य न ढल जाय, निश्चय ही कठिन काम है। धन्य हैं परमात्मा कि अब तक बड़ी सफलता हमें मिलती रही है। मैं मिशनरी आदि लोगों को दोष नहीं दे सकता कि वे मुझे समझने में असमर्थ हुए।

उन्होंने शायद ही कभी ऐसा पुरुष देखा होगा, जो धन और स्त्रियों की ओर आकृष्ट न हो। पहले तो वे इस बात का विश्वास ही नहीं करते थे, और करते भी कैसे! तुम्हें यह नहीं समझना चाहिए कि पश्चिमी देश में ब्रह्मचर्य और पवित्रता के वे ही आदर्श हैं, जो भारत में हैं। इन लोगों के सद्गुण और साहस उसके बदले में पूजित हैं।... मेरे पास अब लोगों के झुण्ड के झुण्ड आ रहे हैं। अब सैकड़ों मनुष्यों को विश्वास हो गया है कि ऐसे भी मनुष्य हो सकते हैं, जो अपनी शारीरिक वासनाओं को वशीभूत कर सकते हैं। इन आदर्शों के लिए अब सम्मान और प्रेम बढ़ते जा रहे हैं। जो प्रतीक्षा करता है, उसे सब चीजें मिलती हैं। अनन्त काल तक तुम भाग्यवान् बने रहो।

तुम्हारा सस्नेह,
विवेकानन्द

•

श्री माँ सारदादेवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

संसार का त्याग करनेवालों के प्रति माँ का भीतर से कितना खिंचाव रहता, यह निम्नोक्त घटना में मैंने देखा था। माँ की एक चचेरी बहन का लड़का बाँकू (बंकिम) अत्यन्त सुरीला कण्ठवाला था, बचपन से ही गाने बजाने में उसकी रुचि थी। कुछ बड़ा होते ही बाँकू ने प्रयत्नपूर्वक गाना सीखा और रामायण गाना आरंभ किया। धीरे धीरे उसने एक रामायण-मण्डली बना ली और पेशेवर कीर्तनियों के समान पैसे लेकर गाने लगा। सुगायक भावुक बाँकू चँवर डुलाते हुए पैरों में नूपुर पहन नाच-नाचकर जब सुललित स्वर में श्रीरामनाम गाता और लीला-कीर्तन करता, तब श्रोताओं के मन-प्राण मुग्ध हो उठते। अच्छे रामायण-गायक के रूप में बाँकू का नाम थोड़े दिनों में ही चारों तरफ फैलने लगा। बाँकू का जन्म जयरामवाटी से कोस भर दूर पुकुर ग्राम में हुआ था। छोटी उम्र से ही अपने मामा के घर जय-रामवाटी में उसका आना-जाना लगा था। उसकी माँ के कोई सगा भाई न था, वहाँ उसकी मौसी और नानी रहती थीं तथा माँ के रिश्ते के भाई-बहन और अनेक मामा-मामी थे। श्री माँ रिश्ते में उसकी मौसी लगतीं। मातृ-विहीन बाँकू छुटपन से ही माँ का

विशेष स्नेहभाजन था, उसके मीठे गले का गाना माँ को अच्छा लगता। माँ के घर भी बाँकू का रामायण गान हुआ था।

बाँकू जयरामवाटी में सभी का प्रिय पात्र और स्नेहभाजन था——आबालवृद्धवनिता सबका। वहाँ उसका हमेशा आना जाना लगा रहता। उसके रामायण गान की प्रसिद्धि जब अच्छी फैल गयी, तब एक दिन बाँकू सब छोड़कर गायब हो गया। बहुत दिनों तक किसी को उसकी खोज-खबर नहीं मिली। एक दिन सुबह छोटा सा गाँव जयरामवाटी हठात् उल्लसित हो उठा, बच्चे-बूढ़े- स्त्रियाँ सभी सतीश विश्वास के अन्तःपुर की ओर टूट पड़े। क्या हो गया! पता चला कि सतीश विश्वास सुबह शौच के लिए नदी की तरफ गये थे, वहाँ अचानक बाँकू को देख उसे समझा-बुझाकर अपने घर ले आये हैं। बाँकू साधू हो गया है! श्री माँ भी यह समाचार पा सतीश विश्वास के घर चलीं। लोगों ने माँ को कभी मामा लोगों का घर छोड़ और किसी के घर जाते नहीं देखा था। आज उनको सतीश विश्वास के घर जाते देख उनका एक शिष्य भी कौतूहल से साथ में पीछे पीछे चलने लगा। शिष्य की बाँकू के साथ पहले से घनिष्ठता थी। बहुत दिनों बाद बाँकू को देखने का मौका मिल रहा है इसलिए उसे भी आन्तरिक रूप से प्रसन्नता हुई। सतीश विश्वास के घर के भीतर का

आँगन गाँव के लोगों से भरा हुआ था, पूजनीया भानि बुआ भी वहाँ थीं। सतीश उनके भतीजे हैं। यद्यपि वे दूसरे मकान में रहतीं, पर भोजन उन्हीं के यहाँ करती थीं। माँ को देख बुआ उल्लसित हृदय से चिल्लाकर कह उठीं, "सतीश, अरे सतीश! आज तेरे सौभाग्य का दिन है, माँ स्वयं तेरे घर आयी हैं! जल्दी आसन ले आ, जल्दी आसन ले आ, माँ को प्रणाम कर बैठाल।"

सतीश की स्त्री घर के द्वार को लीप रही थी, ऊँचे बरामदे का अभी ही लिपाई हुई थी। सुदक्ष गृहिणी के द्वारा सधे हाथो से गोबर-माटी देकर की हुई सुन्दर लिपाई कच्चे भीतवाले मकान को सुबह सुबह कैसी शोभा प्रदान करती है और मन के भीतर शुचिता और शुद्धता का कैसा पवित्र भाव उठाती है, यह तो वे ही जानते हैं, जा गाँव में रहे हैं और जिन्होंने यह सब अच्छी तरह देखा है। विश्वास को पत्नी दौड़ा आयी और हाथ धो एक सुन्दर सा गलीचे का आसन लाकर बरामद में बिछा दिया। दम्पति प्रसन्न हृदय से हाथ जोड़ माँ को बुला ले गये और आसन पर बिठाकर चरणों में प्रणाम किया और उनका शुभाशीर्वाद प्राप्त किया। माँ गोबर से पुते साफ-सुथरे बरामदे की कोर में पूर्व की ओर मुँह करके पाँव नीचे झुलाकर बैठी हैं। गोद में दोनो हाथ रखे हुए हैं, बारीक लाल किनार की सफेद साड़ी पहने हुए ह

थोड़ा घूँघट पड़ा हुआ है, मुखमण्डल प्रसन्न है, कुछ कुछ घुंघराले केश वक्ष के दाहिनी ओर से नीचे झूल रहे हैं। माँ इस प्रकार बैठी हुई हैं कि देखने से लगता है मानो लक्ष्मी स्वयं भाग्यवान् गृहस्थ के दरवाजे पर बैठी हैं, पास ही में धान्य से भरा भण्डार शोभा बिखेरता हुआ उनके आगमन की सूचना दे रहा है।

यहाँ पर और एक दिन का हृदयग्राही दृश्य स्मृतिपटल पर आ रहा है। हेमन्तकाल था, माँ भोर में बाहर से प्रात:कर्म निपटाकर ओस से भीगे पाँवों से लौट रही थीं, सखे धूलिकण पैरों के नीचे चिपक रहे थे। कुछ समय पहले ही घर की पुरानी नौकरानी, हम लोगों की शशी मौसी, घर के भीतर का प्रवेशद्वार रोज के नियम के अनुसार लीप कर गयी थी। दरवाजे के पास आ माँ दरवाजा खोलने के लिए खड़ी हुईं। ठेलने से दरवाजा खुल गया और उन्होंने भीतर प्रवेश किया। उस समय उनके गीले और धूलिरंजित दोनों श्रीचरणों की द्वारतल पर इतनी सुन्दर छाप पडी थी कि उस अतुलनीय शोभा को देख लगता मानो स्वयं लक्ष्मीजी अभी अभी घर के भीतर प्रविष्ट हुई हैं। बचपन में लक्ष्मीपूजा के दिन अपने घर के प्रवेशद्वार में रांगोली से बना अलपना देखा था और उसके बाजू से छोटे छोटे शुभ पदचिह्न बनाये गये थे, जो देवी के गृहप्रवेश के परिचायक थे। आज के ये पदचिह्न भी ठीक उसी के जैसे थे! तथापि

वे भक्त-हृदय के कल्पना-चित्र ही थे, पर ये तो यथार्थ ही थे। चित्र को मुग्ध करनेवाले उन पद-चिह्नों ने नेत्रों को अपने मोह-पाश में बाँध लिया और हृदय पुलकित हो उठा। गोपियों ने यमुना-तट पर इन्हीं पदचिह्नों को देखकर धरणी के पुलक की सिहरन का अनुभव किया था। धरणी, तुम भाग्यवती हो! सच ही तुम वसुमती हो! पर हाय! देखते देखते पुलक विषाद में परिणत हो जायगा। पल भर बाद ही यह धरणी-शोभा महामाया के गर्भाकाश में विलीन हो जायगी और वह क्षुद्र जीव के स्थूल चक्षुओं से अगोचर हो जायगी! क्या किया जाय, इन पदचिह्नों की रक्षा का क्या कोई उपाय नहीं? नहीं, कोई उपाय तो खोजे नहीं मिला। विषण्ण हृदय से पदरज सिर और छाती पर लगा ली, मन में थोड़ी शान्ति मिली, चित्त कुछ प्रफुल्ल हुआ। तब भीतर में विद्युत् की चमक के समान बोध हुआ कि आश्रित भक्तों के हृदय में लीलामयी अपने लीलामय सुन्दर चरणकमलों को सदा के लिए अंकित कर देती हैं। 'चरण-नख में कोटि शशि का मृदुल हास, करे श्यामा हृदय-कन्दर में प्रकाश।'

सतीश विश्वास के गृह-द्वार में माँ बैठी हैं। सामने आकर बाँकू ने भक्तिभाव से उनके चरणों म प्रणाम किया और नतमस्तक हो खड़ा रहा। माँ बड़ी प्रसन्न हुईं, बाँकू को देख स्नेहाशीष देती हुई आनन्द से बार बार कहने लगीं, "बाँकू साधू हो गया, अच्छा

किया, साधू हो गया, अच्छा किया।" बाँकू मौन-व्रत लिये हुए है, सिर पर लम्बी जटा है, शरीर पर कफनी, पाँवों में खड़ाऊँ, एक हाथ में पीतल का कमण्डलु है और दूसरे में योगदण्ड। गाँव के लड़के-लड़कियाँ उसको चारों तरफ से घेर कर हो-हल्ला कर रहे थे। माँ के आते ही उन लोगों को एक ओर सरका दिया गया। बाँकू की अपनी मौसी (हम लोगों की भावी-मौसी) भाविनी देवी निःसन्तान बालविधवा हैं। पुत्रतुल्य बाँकू को इस रूप में देख रो रही हैं। गाँव की अनेक स्त्रियाँ बाँकू को देख स्तम्भित हो गयी हैं और अब अश्रुपूर्ण नेत्रों से उसे देखते हुए शोकोच्छ्वास भर रही हैं। बहुत से पुरुष भी आये हैं --अलग अलग लोगों का अलग अलग मत है, किन्तु इतना सुन्दर रामायण-गान का पेशा छोड़ बाँकू का यह बाउल भेष बनाना और साधुगिरी करना किसी को पसन्द नहीं आ रहा है। एकमात्र माँ ही उसकी प्रशंसा कर रही हैं। माँ कह रही हैं, "साधू बन गया, खूब अच्छा काम किया! क्या है इस हाड़-माँस के ढाँचे में! यही देखो ना--वात से मरी जा रही हूँ! इस देह में है क्या? किसके लिए इतनी माया! दो दिन बाद ही तो खत्म हो जायगा। तब जलाने से रहेगी डेढ़ सेर राख! डेढ़ सेर राख छोड़ तो और कुछ नहीं! बाँकू साधू बना है, भगवान् के रास्ते गया है, अच्छा किया, अच्छा किया।" माँ उच्छ्वसित हृदय

से बाँकू की प्रशंसा कर रही हैं और उसे आशीर्वाद दे रही हैं। उपस्थित सभी जन चुप हैं और गम्भीर होकर सुन रहे हैं। कुछ देर बाद बाँकू को अपने यहाँ आने के लिए कह माँ घर वापस लौटीं। साथ में आये शिष्य से कहा, "बाँकू को ले चलो।" वे दोनों मित्र बहुत समय बाद मिलने से विशेष आनन्दित हुए और एक दूसरे का हाथ पकड़े माँ के पीछे पीछे चलने लगे।

घर आकर माँ ने अपने हाथों से फल काटकर एक पात्र में सजाया और शिष्य-सन्तान के हाथ बाँकू के जलपान के लिए भेजा तथा दोपहर में भोजन पाने के लिए कहा। दोपहर में भोजन करते समय उसे माँ ने जितने दिन इच्छा हो वहीं रुकने और भोजन पाने के लिए कहा। बाँकू का स्वास्थ्य खराब हो गया था। माँ की स्नेहपूर्ण देखभाल से वह अच्छा होने लगा और उसके दिन बड़े आनन्द और निश्चिन्तता में कटने लगे। मौनी होने पर भी वह बीच में माँ के साथ दो-चार बातें कर लेता और अपने पूर्वपरिचित मित्र के साथ भी कोई न रहने पर कभी बोल लेता। बाँकू अपने में मस्त रहता, सुबह-शाम अपने सुमधुर स्वर में गाकर सबको आनन्दित करता, किन्तु वह बाउलों के बीच प्रचलित गाने ही गाता। उसका स्वास्थ्य कुछ अच्छा हुआ। सब सोचते थे कि अब वह यहीं रह जाएगा परन्तु एक दिन भोर में हठात् बिना किसी को बताये वह कहीं चला गया।

बाँकू के रहते माँ के यहाँ एक गायक भक्त आये थे। एक दिन शाम को उन्होंने श्री ठाकुर सम्बन्धी गाने गाये--सभी ठाकुर की महिमा से भरे गाने थे। उनके तथा दूसरों के अनुरोध पर बाँकू ने भी गाना गाया--अपने स्वयं के भाव में डूबकर। माँ अपने कमरे के बरामदे में बैठकर गाना सुन रही थीं, उनकी बातों से लगा कि बाँकू का गाना उनको खूब हृदयस्पर्शी लग रहा था। पास में बैठे शिष्य-सन्तान को लक्ष्य कर बोलीं, "बाँकू बड़ा अच्छा गाता है--सभी आत्मतत्त्व के गाने होते हैं।" बाहर यदि उथला उथला भाव हो, तो शब्दों का चुटीलापन माँ को विशेष न छू पाता। उन्हें भीतर का खिचाव, वस्तु के प्रति मूल दृष्टि और तत्त्वज्ञान का प्रकाश कहीं अधिक आनन्द देता।

साधु-भक्ति सम्बन्धी एक और घटना याद आती है। एक दिन सन्ध्या के बाद एक शिष्य माँ को पत्रादि पढ़कर सुना रहा था। माँ जमीन पर आसन डाल पैर फैलाये बैठी थीं। सामने लालटेन जल रही थी। शिष्य माँ के पास ही बैठा हुआ सिर नीचे गड़ाये पत्रादि पढ़ रहा था। अचानक उसकी दृष्टि कुछ दूर पर चल रहे एक बड़े कनखजूरे पर पड़ी। वह माँ की ओर बढ़ रहा था। देखते ही शिष्य को लगा कि कहीं माँ को काट न दे! बस त्योंही एक लात मार उसे पीस डाला। उसके पास लाठी या दूसरा कोई साधन खोजने का समय ही न था!

कहीं माँ को काट दे तो ! ज्योंही देखा त्योंही जोर से लात लगायी। माँ ने मृत जीव की ओर सकरुण नेत्रों से देखते हुए धीरे धीरे कहा, "साधू के पैर की चोट से प्राण गये !" इस प्रकार कहा, मानो उसकी सद्गति हुई हो ! शिष्य अच्छी तरह जानता था कि उसमें कितना साधुत्व है; फिर भी माँ की कृपादृष्टि और शुभेच्छा से उस कनखजूरे की सद्गति निश्चित होगी यह उसने अच्छी तरह समझ लिया। साथ ही वह यह भी सोचने लगा कि साधुत्व के प्रति माँ की कितनी श्रद्धा है, कितना विश्वास है !

अन्य एक समय माँ घर में नहीं थीं ऐसे में दो हिन्दी भाषी साधू भिक्षा के लिए आये। एक शिष्य ने उन्हें पर्याप्त सीधा दे विदा किया। उपस्थित कोई कोई कहने लगे, वे लोग साधू नहीं हैं, पेशवर भिखारी हैं, साधू का गेरुआ वस्त्र पहन लोगों को ठगते हैं एक कहने लगा, "वे 'सियार मारनेवाले' हैं, दिन मे साधू सजकर भिक्षा करते हैं और रात्रि में सियार मारकर खाते हैं।" इस प्रकार 'सियारमारनेवाले' सच में हैं, उत्तरी भारत में मिलते हैं। शिष्य ने उत्तर दिया, "जो हो, माँ के घर आशा लेकर आये थे, खाली हाथ लौटा देना ठीक नहीं।" वे दोनों पर्याप्त सीधा पा खुश हो चले गये। कुछ दिन बाद जब माँ के पास यह प्रसंग उठा, तब सीधा देने की बात पर सन्तोष व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा, "देखो

बेटा ! जो हो, साधू के वेश में आये थे तो ? उनको देने से साधू की ही सेवा हुई ।"

कामारपुकुर में रहते समय माँ ने स्वयं एक उड़िया साधू के लिए कुटिया बनवा दी थी और उसके अस्वस्थ होने पर उसकी भिक्षा और सेवा की व्यवस्था स्वयं ही की थी । काशी-तीर्थयात्रा के समय वहाँ के प्राचीन साधू—तोतापुरी के गुरुभाई—चमेलीपुरी को ठण्ड के दिनों में कम्बल दिया था । माँ स्वयं जिस प्रकार साधू-संन्यासियों के प्रति श्रद्धापूर्ण व्यवहार करतीं, उसी प्रकार अपने साथ रहनेवालों को साधू-भक्ति की शिक्षा देतीं । माँ इसका सदैव विशेष ध्यान रखतीं कि उनके साथ रहनेवाले लोग साधुओं के प्रति श्रद्धाभक्तिपूर्ण व्यवहार करें और उनके काम में किसी प्रकार की अवहेलना या अवज्ञा का भाव न आए । सामान्य त्रुटि देखते ही उसे उसी क्षण ठीक करा देतीं । राधू (माँ की भतीजी) आदि से साधुओं को भक्तिपूर्वक प्रणाम करने के लिए कहतीं । बाह्य त्यागी साधू-संन्यासियों के प्रति जैसा श्रद्धाभक्ति का भाव रखकर चलने के लिए माँ अपने शिष्यों को उपदेश देतीं, वैसा ही भाव आन्तरिक त्यागी निष्ठा-वान् गृहस्थ भक्तों के प्रति भी रखने के लिए उनसे कहतीं । माँ ने जयरामवाटी में साधू और भक्तों की सेवा के लिए ही जमीन खरीदने की बात कही थी । यही नहीं, जयरामवाटी और उद्बोधन में भिक्षार्थी साधू-वैष्णव-फकीरों के प्रति भी उनका मर्यादापूर्ण

व्यवहार विस्मय उत्पन्न करता। यही क्यों, गरीब दुःखी आतुर अन्धे भिखारी लोगों के प्रति भी उनकी सहानुभूति और प्रीतिपूर्ण आचरण देखने और सीखने का विषय था।

हिन्दुओं के देवी-देवताओं की भाँति अन्य दूसरे धर्मावलम्बियों के देवस्थान के प्रति भी उनकी भक्ति देख विस्मित होना पड़ता था। चितपुर ब्रिज के नीचे रास्ते के किनारे ही भूतसाहब की दरगाह बड़ी जाग्रत् मानी जाती थी। उद्बोधन और पास की लड़कियाँ दर्शन के लिए जा रही थीं, तब माँ ने अपने एक दुबले-पतले लड़के को उनके साथ भेजा था। दरगाह के दर्शन कर, वहाँ पूजा-चढ़ौत्री दे, प्रणाम कर बाबा भूतसाहब की प्रसादी भभूत ले वह बालक लौटा और माँ के हाथों में वह भभूत दे दी। माँ ने भक्तिपूर्वक वह भभूत माथे से छुलायी और पास में खड़े बालक के हाथ में देते हुए स्नेहभरे स्वर में कहा, "बेटा, भूतसाहब की प्रसादी भभूत शरीर और सिर में मल लो, शरीर स्वस्थ होगा, बड़े जाग्रत् हैं।" उस शिष्य बालक के मन में दरगाह के प्रति वैसी कोई आस्था-नहीं थी, पर माँ की श्रद्धा को देख वह विस्मित हुआ और उसने माँ के कहने पर भभूत सिर और छाती में नाभि के ऊपर मल ली। माँ उसके भभूत मलते तक कातर स्वर में प्रार्थना करती रहीं, "बाबा भूत-साहब, मेरे बेटे को ठीक कर दो, बाबा!"

(क्रमशः)

स्वामी सारदानन्द

स्वामी ज्ञानात्मानन्द

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म य :।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्
॥ गीता, ४।१८

गीता में भगवान् कृष्ण ने उपर्युक्त श्लोक अर्जुन को यह समझाने के लिए कहा था कि कर्म क्या है और अकर्म क्या। उसका साधारण रूप में अर्थ है—जो कर्म में अकर्म एवं अकर्म में कर्म देखते हैं, वे ही यथार्थ में बुद्धिमान हैं, वे विभिन्न प्रकार के कर्म करने पर भी उनमें लिप्त नहीं होते। यह 'कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म' क्या है इसे लेकर विभिन्न भाष्य-कारों ने तरह तरह से भाष्य एवं टीकाएँ लिखी हैं।

बहुत सम्भव इसी श्लोक पर कर्मयोग-प्रसंग में स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है—वे ही आदर्श पुरुष हैं, जो नितान्त निर्जनता और निस्तब्धता के बीच घोर कर्म का अनुभव करते हैं तथा प्रबल कर्म-शीलता के बीच मरुभूमि की निस्तब्धता और निस्सं-गता का।...वाहनों के शोर से भरी महानगरी में भ्रमण करते हुए भी उनका मन शान्त रहता है, मानो वे किसी निःशब्द गिरि-कन्दरा में बैठे हों, यद्यपि उनका मन प्रबल रूप से कर्म में लगा हुआ होता है; यही कर्मयोग का आदर्श है।

स्वामीजी द्वारा बतलाये कर्मयोगी के इस आदर्श को हम लोगों ने श्रीमत् स्वामी सारदानन्द जी के जीवन में जीवन्त रूप में देखा था। सैकड़ो काम-काज और झंझटों के बीच रहते हुए भी हम देखते कि वे धीर, स्थिर और शान्त हैं। व्यस्त कोलाहलपूर्ण कलकत्ते के एक हिस्से में रहने पर भी लगता मानो वे सचमुच मरुभूमि की निस्तब्धता का उपभोग कर रहे हैं तथा जब कार्य शेष होने पर वे शान्त भाव से बैठ रहते, तब लगता कि केवल मठ-मिशन की ही नहीं बल्कि बहुजनकल्याण की चिन्ता में वे निमग्न हैं। उनके विशाल हृदय में कितने दीन-दुःखीजन स्थान पाते इसकी कोई गिनती नहीं थी।

मठ में प्रविष्ट होने के बाद जब हम लोग उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आ पाये, तब 'उद्बोधन' अर्थात् 'माँ का घर' ऐसा लगता मानो वह श्रीराम-कृष्ण-संघ की एक विचित्र कर्मशाला है। श्री माँ का लीलासंवरण कुछ ही पहले हुआ था। श्री माँ की संगिनी और सेविकाएँ गोलाप-माँ, योगीन-माँ आदि श्री माँ के घर में ही रहती थीं। योगीन माँ के निराश्रित नाती लोगों ने भी उद्बोधन में आश्रय पाया था। इसके अलावा, जयरामबाटी तथा श्री माँ की भतीजी राधू आदि सबके कुशलक्षेम की जानकारी यहीं से की जाती थी। इस सबका भार पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द जी) पर था।

मठ-मिशन का भी सब काम तब उद्बोधन से ही होता था। पूजनीय महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द जी) भले ही तब मठ-मिशन के उपाध्यक्ष (Vice President) एवं बेलुड़ मठ के व्यवस्थापक थे, फिर भी बहुत दिनों तक कठोर तपस्या का जीवन बिताने के फलस्वरूप उनके लिए मठ-मिशन के विविध कार्यों में सक्रिय रूप से अपने को लगाना सम्भव नहीं होता था। मठ-मिशन के अध्यक्ष पूजनीय श्री महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) सर्वदा उच्च आध्यात्मिक राज्य में विचरण करते, इसलिए उनके लिए भी अपने मन को सहज भूमि में उतारकर सब कुछ देखना-सुनना सम्भव नहीं होता था। फलस्वरूप मठ-मिशन का सारा काम पूजनीय शरत् महाराज को ही देखना होता था। वे भी अथक रूप से परिश्रम करते हुए सब कुछ सुचारु रूप से चलाते। पूजनीय श्री महाराज उन दिनों प्रायः अधिक समय भुवनेश्वर में ही बिताते। केवल मठ-मिशन की कोई विशेष समस्या आ जाने पर स्वामी सारदानन्द जी उनके शरणापन्न होते और विशेष अनुनय-विनय करके उनको मठ अथवा प्रयोजनीय स्थान में ले जाकर समस्या का समाधान करते तथा समस्या का हल होते ही उन्हें फिर अपने आध्यात्मिक राज्य में निश्चिन्त मन से विचरण करने देते।

उद्बोधन में उस समय जो साधुलोग थे, वे कर्मी

होने पर भी उनमें से सभी धीर-मस्तिष्क वाले नहीं थे। किन्तु ऐसी विपरीत अवस्थाओं में पूजनीय सारदानन्द जी को हम लोग कभी विचलित होते नहीं देखते। धीर, स्थिर, कुशल कर्मवीर की भाँति वे ठाकुरजी के संघ को समस्त बाधाओं और विघ्नों से पार कराते हुए उसके सुनिश्चित लक्ष्य की ओर ले जाते।

दुर्भिक्ष और बाढ़ से पीड़ित, बीमार और त्रस्त लोगों की सेवा भी उस समय मिशन का नित्य नैमित्तिक कर्म था। जहाँ से भी इस प्रकार की सेवा की पुकार होती, मठ-मिशन के कर्मियों की संख्या तब बहुत कम होने पर भी पूजनीय शरत् महाराज अविचलित चित्त से उसी क्षण वहाँ संत्रस्त लोगों के सहायतार्थ कर्मी भिजवा देते। सेवक भेजकर ही वे निश्चिन्त नहीं रहते थे; पीड़ितों के सेवा-कार्यों और कर्मियों की सारी खबर ब्योरेवार उनको नियमित रूप से भिजवानी पड़ती थी। इन कार्यों में किसी प्रकार की शिथिलता या अपव्यय होते देख वे कर्मियों की कड़ी भर्त्सना करते और फिर से वैसा न हो इसके लिए सावधान कर देते। किन्तु बाहर का कोई व्यक्ति विशेष अथवा कोई संस्था यदि सेवकों के इन कार्यों की थोड़ी भी निन्दा-आलोचना करती, तो वे सिंह-विक्रम से उनकी बातों की असारता प्रमाणित कर देते और सेवकों को इन सब बातों पर कान न दे अपना काम निर्बाध रूप से चलाते रहने के लिए

निर्देश देते। राजशाही जिले के नौगाँव के बाढ़पीड़ितों के सहायता-कार्य में यह हम लोगों ने प्रत्यक्ष अनुभव किया था। दीर्घ दो महीने तक सेवा-कार्य करने के बाद उसकी वहाँ और प्रयोजनीयता न होने से पूजनीय शरत् महाराज के निर्देशानुसार वह कार्य बन्द कर दिया गया था। इस पर वहाँ कार्यरत कतिपय नवीन संस्थाओं ने प्रबल आपत्ति उठायी, अखबारों में भी इस विषय में नाना प्रकार से आलोचना निकली; किन्तु पूजनीय शरत् महाराज ने उन सबकी बातों को तुच्छ करते हुए सर्वसाधारण को बतला दिया कि दीर्घकाल सेवा-कार्य की अभिज्ञता के कारण मिशन यह विशेषरूप से जानता है कि कौन सा सेवा-कार्य कब प्रारंभ करना चाहिए और कब समाप्त। जो लोग नया उत्साह लेकर और भी अधिक समय तक सेवा-कार्य चलाये रखना चाहते हैं, उनके लिए इस विषय में और भी अभिज्ञता अर्जन करना आवश्यक है। पूजनीय शरत् महाराज की इस बात को लेकर समाचार-पत्रों में नाना प्रकार की आलोचनाएँ छपीं, किन्तु वे अविचलित रहे और बाद में सर्वसाधारण लोगों को भी उनकी बातें समझ में आ गयीं।

मिशन के कार्यों को उस समय की अँगरेज सरकार ऊपर से कुछ न कहते हुए भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखती थी। ढाका के दरबार में सन् १९१६ ईसवीं म भाषण देते हुए बंगाल के उस समय के गवर्नर

लार्ड कारमाइकेल ने मिशन के प्रति कटाक्ष करते हुए जो वक्तव्य दिया था, वह आज सब लोग जानते हैं। इसके फलस्वरूप मठ-मिशन के अनेक भक्तों और गण्यमान्य व्यक्तियों ने संत्रस्त हो पूजनीय शरत् महाराज के पास इस विषय में क्या करना उचित है इस सम्बन्ध में सलाह माँगी। उत्तर में महाराज ने उन लोगों को अविचलित रहकर किसी प्रकार का भय न करते ए सत्य को पकड़े रहने के लिए कहा एवं वे स्वय मिस मैक्लाउड (स्वामी विवेकानन्द जी की विदेशी शिष्या) को ले कारमाइकेल से मिले तथा उन्हें मिशन के उद्देश्य और वास्तविकता से अवगत कराया। कुछ दिन बाद लार्ड कारमाइकेल ने अपने एक अन्य भाषण में अपने पहले दिये वक्तव्य का खण्डन कर दिया।

इस प्रसंग में एक और भी घटना उल्लेखनीय है, जिसमें पूजनीय शरत् महाराज की दृढ़ता और निर्भीकता विशेषरूप से परिलक्षित हुई थी। बरीशाल जिले में एक बार भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा तथा रामकृष्ण मिशन द्वारा भारूकाठी श्रीरामकृष्ण आश्रम के माध्यम से अकाल-पीड़ितों की सेवा का कार्य शुरू किया गया। उस अंचल में कई लोगों के भूखे मर जाने पर उक्त आश्रम के अध्यक्ष मनोरंजन दासगुप्त महाशय ने समाचार-पत्र में वह खबर छपवा दी। फलस्वरूप वे सरकार के कोप के शिकार हो गये। पुलिस बार बार आश्रम में आकर उस खबर का खण्डन लिखने के

लिए उनसे कहने लगे। इस विषय में क्या करना उचित है यह पूजनीय शरत् महाराज से पूछने पर उन्होंने लिख भेजा, "तुम कभी भी सत्य से च्युत मत होना। यदि यह घटना सत्य है, तो किसी के भय से तुम उसका खण्डन मत लिखना। ठाकुर तुम्हारी सहायता करेंगे।" बाद में जब यह घटना सत्य प्रमाणित हो गयी,तब सरकार का आश्रम के अध्यक्ष के प्रति क्रोध भी धीरे धीरे दूर हो गया।

कार्यक्षेत्र में इस प्रकार कठोर, निर्भीक और दृढ़चित्त होने पर भी पूजनीय शरत् महाराज का हृदय फूल से अधिक कोमल था। सरकार के कोप से पीड़ित, अस्वस्थ, अर्ध-विक्षिप्त और विकृतमस्तिष्क कितने साधुओं को उन्होंने अपने पास 'उद्बोधन' में स्थान दिया था इसकी कोई गिनती नहीं। राजरोष से पीड़ित स्वामी प्रज्ञानन्द (देवव्रत बसु) और स्वामी चिन्मयानन्द (शचीन) दोनों ही मानिकतला बम-काण्ड षड़यन्त्र के अभियुक्त थे तथा आत्मप्रकाशानन्द (प्रियनाथ) और स्वामी सत्यानन्द (सतीश) आदि भी क्रान्तिकारी दल के थे। उन लोगों के रिहा होने पर यदि महाराज ने उन्हें आश्रय न दिया होता, तो मठ-मिशन में उन्हें प्रवेश मिलता या नहीं इसमें सन्देह है।

अद्वैतचैतन्य जैसे अर्ध-विक्षिप्त लोगों के भी वे परम आश्रय थे। अद्वैतचैतन्य हम लोगों के समय ही

संघ में प्रविष्ट हुआ था और यथासमय उसको ब्रह्मचर्य-दीक्षा भी हुई थी। किन्तु दुर्भाग्यवश उसके बाद उसके मस्तिष्क में विकार पैदा हो गया। तब वह कभी मठ में, कभी कलकत्ते में और कभी अन्यत्र घूमता फिरता। उसकी ऐसी अवस्था देख पूजनीय शरत् महाराज ने उसे उद्बोधन में रखा और सब प्रकार से उसकी देखभाल की व्यवस्था की। इसी समय एक बार उसके अधिक बीमार पड़ने पर पूजनीय शरत् महाराज ने उसकी चिकित्सा की व्यवस्था करवायी और उसके सेवक को ठीक समय पर दवा पिलाने का निर्देश दिया। किन्तु पगले अद्वैत ने दवा पीने से इन्कार कर दिया। सेवक ने जब पूजनीय शरत् महाराज को यह बतलाया, तब वे स्वयं उसकी शय्या के पास आये और उससे दवा पीने का अनुरोध करते हुए कहने लगे, "अद्वैत बेटे, दवा पी लो, तुम्हारी बीमारी दूर हो जायगी।" पर उत्तर में पगले ने कहा, "इस समय तो 'बेटा, बेटा' कर रहे हो, पर रसगुल्ला खाते समय तो 'बेटा, बेटा' नहीं करते।" तब कल्याणकामी धीर गम्भीर शरत् महाराज कहने लगे, "बेटे, इस समय तो तुम दवा पी लो, बाद में तुमको रसगुल्ला खिलाएँगे।" इस प्रकार के करुणामय महापुरुष और कहाँ देखने को मिलते हैं?

अत्यन्त विश्वस्त सूत्रों से एक और घटना का हम लोगों को पता लगा था, जिससे उनके चित्त की

कोमलता और क्षमाशीलता का परिचय पाकर हम लोग अचरज से भर उठे थे। दुर्भाग्यवश हम लोगों में से एक साधु एक समय अनुचित कर्म में लिप्त हो गया। मठ के अधिकारियों ने उसे बार बार चेतावनी दी, पर वह प्रारब्धवश उस गलत कर्म से विरत होने में समर्थ नहीं हो पाया। जब वह सुधरने की सीमा पार कर गया, तब मठ के अधिकारियों ने उसे उसके पूर्वाश्रम में लौटा देना ही उचित समझा। फलस्वरूप उन्होंने उसे दो ब्रह्मचारियों के साथ पूजनीय शरत् महाराज के पास भिजवा दिया—इस उद्देश्य से कि मठ-मिशन के महासचिव को बतलाकर उसे गाड़ी में बैठाल दिया जाय। दोनों ब्रह्मचारी उसे लेकर उद्बोधन पहुँचे। पूजनीय शरत् महाराज ने ऊपर अपने कमरे में सब संवाद सुना और उसी समय उन दोनों ब्रह्मचारियों को बेलुड़ मठ लौट जाने के लिए कहा। वे स्वयं नीचे अपराधी साधु के पास आकर स्नेहभरे स्वर में बोले, "बेटे तू कहाँ जायगा, यहीं रह, तेरी सब व्यवस्था मैं ही करूँगा।" साधु ने भी उनकी करुणा से विगलित हो वहीं उद्बोधन में रहना निश्चित किया और कुछ समय उनके पास हो स्थिर चित्त से वास किया। परन्तु प्रारब्ध बलवान् होता है, इतनी करुणा पाने पर भी वह अन्त तक नहीं टिक पाया।

उस समय साधुओं के बीमार पड़ने पर चिकित्सा और पथ्यादि का व्यय वहन करना बेलुड़ मठ के लिए

अत्यन्त कठिन था, क्योंकि तब मठ की आय अल्प थी। हम लोगों नें सुना है कि इसी कारण पूजनीय ज्ञान महाराज ने स्वामी ब्रह्मानन्द जी द्वारा संकलित 'श्रीश्रीरामकृष्णेर उपदेश' नामक पुस्तक को छपवा-कर भक्तों के बीच कम दाम में बेचना आरम्भ किया था। उद्देश्य था--बिकी हुई पुस्तकों से प्राप्त आय से साधुओं की सेवा होगी। इससे नाना प्रकार की बातें उठीं। वह सब सुनकर पूजनीय शरत् महाराज एक दिन मठ में ज्ञान महाराज से बोले, "देखो ज्ञान, तुम यह पुस्तक मुझे दे दो। अब से मठ के अस्वस्थ साधुओं की चिकित्सा और सेवा का भार मैं ही लेता हूँ।" तब से बहुत दिनों तक, उद्बोधन में जगह कम होते हुए भी, मठ के बीमार साधुगण आकर वहीं रहते और पूजनीय शरत् महाराज की स्नेह-छाया में चिकित्सा इत्यादि का सुअवसर प्राप्त करते।

इस प्रसंग में गोविन्द अर्थात् स्वामी तत्त्वानन्द की बात याद आती है। तत्त्वानन्द ने हम लोगों के समय ही मठ में प्रवेश लिया था एवं उद्बोधन में कर्मी के रूप में कुछ काल था। जब पूजनीय शरत् महाराज कुछ समय के लिए बाहर गये थे, उस बीच गोविन्द अचानक चेचक से आक्रान्त हो गया। कम जगह वाले उद्बोधन में उसको रखना निरापद नहीं है ऐसा समझ कर उस समय उद्बोधन के जो व्यवस्थापक थे, उन्होंने उसे कारमाइकेल (आजकल आर. जी. कर) मेडिकल

कालेज में भरती करा दिया। दुर्भाग्य से कुछ दिनों बाद ही वहीं गोविन्द की मृत्यु हो गयी। जब कुछ दिनों बाद पूजनीय शरत् महाराज लौटकर आये और उन्होंने गोविन्द की मृत्यु का समाचार सुना, तो वे अत्यन्त मर्माहत हुए और दुःख प्रकट करते हुए बोले, "अब से मेरे बीमार पड़ने पर मुझे भी अस्पताल में भरती कर देना।" ऐसी सहानुभूतिपूर्ण, खेद से भरी उक्ति उन जैसे महापुरुष के मुख से ही सम्भव है।

दीन-दुःखियों के लिए तो वे हमेशा माता-पिता के समान थे। उनके देहत्याग के कई दिनों बाद हमने उनके अपने हाथ से लिखी हिसाब की एक कापी देखी थी, जिसमें उन्होंने बहुत से दीन-दुखियों का हिसाब रखा था। किस विधवा ने कब उनके पास कितना रुपया रखवाया है, किस असहाय भिखारी ने भिक्षा से प्राप्त धन का कितना भाग उनके पास जमा किया है, यह सब उसमें स्पष्ट अक्षरों में लिखा हुआ था। फिर उसमें यह भी उल्लेख था कि उस जमा धन से किसने कब कितना रुपया वापस लिया।

मातृजाति पर उनकी जो अपार्थिव श्रद्धा थी, वह सर्वविदित है। 'भारत में शक्ति-पूजा' की भूमिका में उन्होंने लिखा है, "जिनकी करुणादृष्टि से ग्रन्थकार संसार की सभी नारी-मूर्तियों के भीतर श्री जगदम्बा की विशेष शक्ति के प्रकाश की उपलब्धि करके धन्य हुआ है, उन्हीं के श्रीचरणकमलों में यह पुस्तक भक्ति-

पूर्ण चित्त से समर्पित है।" सचमुच वे मातृजाति को इस प्रकार का सम्मान हमेशा से देते आये थे। अपने देहत्याग के कुछ बरस पहले से ही मठ-मिशन का कार्यभार नये साधुओं को सौंप वे दिन का अधिकांश समय जप-ध्यान में बिताते थे। तब भी मैंने देखा है कि उनके दोपहर के भोजन के पहले और बाद में कितनी ही गृहस्थ महिलाएँ उनके पास आकर अपने दुःखों और अभावों की बात निस्संकोच रूप से बतलातीं और वे भी स्नेह-पूर्वक उनकी समस्याओं को दूर करने का उपाय बतलाते। उनके देहत्याग के बाद हमें ऐसा लगा था कि अब वे लोग सचमुच ही आश्रयशून्य हो गयी हैं और अब उनका ऐसा कोई न रहा, जिसके पास अपने भीतर के दुःख को प्राण खोलकर रख सकें।

मठ में प्रवेश लेने के बाद पूजनीय शरत् महाराज के साथ घनिष्ठ रूप से मिलने का सौभाग्य मुझे कम ही मिला था। बेलुड़ मठ में रहता था और कुछ विशेष कार्य होने पर ही कलकत्ता जाता। तब थोड़े समय के लिए पूजनीय महाराज के दर्शन हो जाते। कभी कार्य के सिलसिले में उनके मठ आने पर उनकी थोड़ी बहुत सेवा का सुयोग मिल जाता। किन्तु उद्बोधन में उनके प्रथम दर्शन की स्मृति अभी भी स्पष्ट बनी हुई है। किसी कार्य से मुझे कलकत्ता जाना पडा था। मैं मठ में नया नया प्रविष्ट हुआ हूँ यह जानकर उद्बोधन के उस समय के पुजारी महाराज मुझे

दया करके श्री माँ के कमरे में ले गये। माँ का लीला-संवरण हुए कुछ ही समय बीता था। श्री ठाकुरजी की पूजा में विशेष आडम्बर न था। पुजारी स्वयं चन्दन घिसकर, फूल सजाकर पूजा के लिए बैठते। माँ के कमरे के उत्तर की ओर के छोटे बरामदे में बैठ मैंने थोड़ा जप-ध्यान करने की चेष्टा की। कितना समय इस प्रकार बिताया यह याद नहीं। पूजनीय शरत् महाराज के कमरे के सामने से श्री माँ के कमरे में आया था, पर तब बहुत सम्भव उनके कमरे का दरवाजा बन्द था। लौटते समय देखा उनका कमरा खुला है और लगा कि जप-ध्यान के पश्चात् चाय पी वे शान्त-स्थिर भाव से बैठे हुए हैं। कुछ डरते हुए मैं उनके कमरे के सामने से निकल रहा था कि उन्होंने स्नेहभरे स्वर से बुलाया, मैंने भी संकोच-भरे हृदय से जाकर उनको प्रणाम किया। इससे पहले लगता है कि एक-दो बार उनको मठ में देखा था। उनकी गम्भीर आकृति देख उनके पास जाने का साहस नहीं जुटा पाया था। इस बार उनके स्नेहभरे आह्वान से मन गल गया। एकदम उनके पास जाकर बैठ गया। उन्होंने भी बहुत सी बातें मुझसे पूछीं। मुझे लगने लगा कि वे मेरे अत्यन्त निकट के हैं। माँ के कमरे में जाकर अभी तक क्या किया, बैठकर पूजा वगैरह देखी या अन्य कुछ किया, यही उनका पहला प्रश्न था। उत्तर में जब मैंने कहा कि थोड़ा बहुत

जप-ध्यान करने की चेष्टा कर रहा था, तो यह सुनकर वे बड़े सन्तुष्ट हुए और पूछने लगे कि मैंने दीक्षा ली है या नहीं, किसको इष्ट मानता हूँ, साकार या निराकार कौनसा मुझे अच्छा लगता है, इत्यादि। दीक्षा अभी नहीं हुई है यह बताने पर कहने लगे, "अवश्य उससे कोई दोष नहीं है; फिर भी एक इष्ट स्थिर न किये जाने पर frittering away of energy (शक्ति का वृथा अपव्यय) होता है, दीक्षा लेने पर वैसा नहीं होता।" साकार-निराकार वाले प्रश्न के सन्दर्भ में यह बतलाने पर कि बादवाले में मेरी अधिक आस्था है, उन्होंने कहा, "वह ठीक है, फिर भी साकार भी सत्य है ऐसा जानना। जानते तो हो, स्वामीजी ने जैसा कहा है, एक ही सूर्य की तसवीर अलग अलग दूरियों से लेने पर अलग प्रकार से दिखती है, उनमें से कोई भी नकली नहीं है। सभी सूर्य के ही फोटो हैं।"

बातों ही बातों में अकस्मात् उन्होंने पूछा, "अरे हाँ, सुना है एक नया लड़का मठ में प्रविष्ट हुआ है, वह इसके पहले interned (नजरबन्द) हुआ था।" मैंने सिर नीचा किये हुए कहा, "हाँ महाराज, वह मैं ही हूँ।" मठ में प्रविष्ट होते समय यह मैंने किसी को नहीं बतलाया था। सुना था कि यह जानने पर मठ के अधिकारीगण मुझे मठ में फिर नहीं लेंगे। किन्तु मेरे एक सहपाठी ने आकर पूजनीय महापुरुष महाराज

के निकट वह प्रकट कर दिया था। कैसे वह बात पूजनीय शरत् महाराज के कानों तक पहुँची, यह मैं अचरज से भरा सोचने लगा। भय न हुआ हो, ऐसी बात न थी, परन्तु जब महाराज उससे किसी प्रकार बिना रुष्ट या विचलित हुए मुझसे वैसा क्यों हुआ था पूछने लगे, तो मैंने भी बिना कुछ छिपाये सब बतला दिया।

उस दिन उन्होंने मुझे साधन-भजन सम्बन्धी अनेक बातें बतलायी थीं, जो कि नितान्त व्यक्तिगत होने की वजह से मैं यहाँ लिख नहीं सकता। उनके साथ बातें करके जब मैं नीचे उतरा, तब किसी किसी साधु ने वह सुनकर कहा था, "तुम्हारी दीक्षा तो हो ही गयी!" मै समझ नहीं सका था। पर आज जब वे बातें याद आती हैं, तो लगता है मानो वे ही मेरे प्रथम दीक्षा-गुरु थे।

और एक दिन की बात है। कुछ वर्षों बाद ढाका से मठ आया हुआ था। एक शाम स्वामी त्यागीश्वरा-नन्द के साथ पूजनीय शरत् महाराज के दर्शनों के लिए उद्बोधन गया। महाराज अपने उसी छोटे कमरे (बैठकखाना) में बैठे थे; आजू बाजू में सान्याल महाशय, क्षीरोद विद्याविनोद तथा और कुछ भक्त बैठे थे--सभी चुपचाप थे। हठात् पूजनीय महाराज ने कहा, "तुममें से किसी को कुछ पूछना है, तो पूछो।" हमारा कोई भी प्रश्न न था, हम तो मात्र उनके

दर्शनों के लिए गये थे इसलिए चुपचाप बैठे रहे। परन्तु महाराज ने फिर से कहा, "तुम लोगों का क्या कोई प्रश्न ही नहीं है, चुप क्यों बैठे हो?" प्रश्न पूछना है इसलिए पूछा, "जब आप लोग इतना साधन भजन करके उनको (भगवान् को) पाकर फिर कर्मक्षेत्र में उतरे थे, तब हम लोगों को मठ में प्रवेश लेते ही काम में क्यों लगा देते हैं?" पूजनीय शरत् महाराज तनिक भी रुष्ट न हो कहने लगे, "तू क्या सोचता है श्रीरामकृष्ण बनेगा (अर्थात् पहले सिद्ध होकर फिर काम में उतरेगा), या स्वामी विवेकानन्द बनेगा? देख, तुमसे या हमसे किसी से उस प्रकार बनना नहीं हो सकता, हम लोगों को तो जप-ध्यान और काम एक साथ चलाते रहना होगा। इनमें से किसी को भी छोड़ने से नहीं चलेगा।"

उनके साथ इस प्रकार और कभी बातें नहीं हुई, फिर भी इन दो दिनों की स्मृति मन में स्पष्ट बनी हुई है।

●

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें:—बाबुराव घोष

स्वामी प्रभानन्द

बाबूराम घोष, जो बाद में स्वामी प्रेमानन्द के नाम से जाने गये, श्रीरामकृष्ण देव के चुने हुए उन छह अन्तरंग शिष्यों में थे, जिन्हें श्रीरामकृष्ण 'ईश्वर-कोटि' कहा करते थे। हुगली जिले के आँटपुर ग्राम में १० दिसम्बर, दि. १८६१ को जन्मे बाबूराम का धार्मिक और सम्भ्रान्त परिवार में पालन-पोषण हुआ था। ईश्वर-भक्ति परिवार की विशिष्टता थी, जिसे बाबूराम ने विरासत में पाया था तथा अच्छी तरह पुष्ट किया था।

गाँव की पाठशाला में प्रारम्भिक शिक्षा पाने के बाद बाबूराम कलकत्ता में उच्च शिक्षा के लिए आया। कुछ समय आर्य विद्यालय में पढ़ने के उपरान्त उसने श्यामपुकुर के पास मेट्रोपोलिटन इन्स्टीटयूट में प्रवेश लिया, जहाँ श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, जो बाद में 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' के लेखक के रूप में प्रसिद्ध हुए, हेडमास्टर थे। यहीं बाबूराम की मैत्री राखाल (जो बाद में स्वामी ब्रह्मानन्द बने) के साथ हुई, जो उसकी ही कक्षा का विद्यार्थी था। जल्दी ही दोनों में घनिष्ठता हो गयी। उस समय तक राखाल श्रीराम-कृष्ण देव के दिव्य प्रेम में बँध चुका था और दक्षिणे-श्वर के मन्दिर में आया जाया करता था।

बाबूराम की बहन कृष्णभाविनी का विवाह कलकत्ते के बलराम बसु के साथ हुआ था। इस विवाह ने परिवार को श्रीरामकृष्ण के समीप ला दिया। यह सम्भव है कि बाबूराम ने श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में पहली बार बलराम बसु से सुना हो। बलराम के बड़े भाई तुलसीराम बलराम के साथ श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए गये थे। बाबूराम की साधु-वृत्ति देख उन्होंने उसे दक्षिणेश्वर के उस सन्त के दर्शन की सलाह दी थी। तुलसीराम ने उसे बतलाया था कि वे महात्मा ऐसे हैं, जो श्री चैतन्यदेव के समान भगवान् का नाम सुनते ही अपनी बाह्य चेतना खो बैठते हैं। इस वार्तालाप के बाद शीघ्र ही दैवयोग से बाबूराम को जोड़ासांकू की एक 'हरि-सभा' (वैष्णवों की एक सभा, जिसमें धार्मिक ग्रन्थ का पाठ होता है) में श्रीरामकृष्ण के दर्शन हो गये।[1] बाबूराम

---

१. वैकुण्ठनाथ सान्याल (श्रीश्रीरामकृष्ण-लीलामृत, बँगला, पृ. ३०८) के अनुसार, बाबूराम ने ठाकुर को पहले बलराम बसु के घर में देखा था। अन्य स्रोतों के लिए देखें—'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका' (रामकृष्ण मठ,नागपुर, पृ. २२१) एवं गुरुदास बर्मनकृत श्रीरामकृष्ण-चरित' (बँगला) (प्रकाशक : कालीनाथ सिन्हा,१३ निकासीपारा लेन,कलकत्ता) खण्ड १, पृ. २६४-५, जहाँ जोड़ासांकू की हरिसभा में बाबूराम की ठाकुर से भेंट का सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है।

वहाँ भागवत-कथा सुनने गया था। सम्भवतः वह अपने मित्र रामदयाल चक्रवर्ती, जो बलराम बसु के यहाँ रहता था, के साथ वहाँ गया था।

वह सम्भवतः वसन्त का एक अपराह्न था। बाबूराम ने श्रीरामकृष्ण को श्रोताओं के बीच बैठे हुए देखा, देखा कि जब कभी श्रीरामकृष्ण के मुख से कुछ उद्गार निकलते हैं, तो उनके समीप बैठे भक्तगण वह बहुत ध्यान से सुनते हैं। विद्वान् वक्ता जो पढ़ रहा था, उस पर श्रीरामकृष्ण की संक्षिप्त टिप्पणियाँ बड़ा प्रकाश डालनेवाली थीं। उस समय तो बाबूराम विस्मय से भर उठा, जब उसने श्रीरामकृष्ण को निःस्पन्दित बैठे देखा। वे बाह्य जगत से दूर कहीं खोये हुए से थे। ऐसा लगता था मानो श्वास-प्रश्वास भी बन्द हो गया हो। उनका मुखमण्डल एक मोहक मुस्कान से दमक रहा था। ऐसा लगता था मानो वे कोई अपूर्व दर्शन कर रहे हों। बाबूराम को उसके साथी ने बतलाया कि श्रीरामकृष्ण समाधि में हैं। वे उस अवस्था में काफी देर तक रहे।[२] उस सन्त की समाधि अवस्था के दर्शन और उनके मधुर शब्दों ने बाबूराम के मस्तिष्क पर एक अमिट छाप छोड़ दी। उस सन्ध्या वह श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में और

---

२. स्वामी नित्यात्मानन्द : 'श्री म दर्शन' (जनरल प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, ११९ धरमतला स्ट्रीट, कलकत्ता १३) (बँगला) भाग ४, पृष्ठ ११८।

अधिक जानने की उत्सुकता ले घर लौटा। बाबूराम तब कलकत्ता के कम्बलीटोला में एक मकान किराये से लेकर रहता था।

दूसरे दिन जब स्कूल में बाबूराम की भेंट राखाल से हुई, तो उसने उस विषय को उठाया और पूछा, "अच्छा, क्या दक्षिणेश्वर में कोई महात्मा रहते हैं ?"

राखाल--"हाँ, क्या तुम उनके दर्शन करना चाहते हो ?"

बाबूराम- "हाँ, जरूर ! क्या तुमने उनके दर्शन किये हैं ? किस प्रकार के व्यक्ति हैं वे ?"

राखाल--- "हाँ, मैंने उनसे भेंट की है। तुम स्वयं क्यों नहीं चलते एक दिन, और अपनी आँखों से उन्हें देख लेते ?"

बाबूराम--- "अच्छा, क्या वे वही हैं, जो कल जोडासांकू में पाल के यहाँ भागवत-पाठ सुनने आये थे ?"

राखाल--"बहुत सम्भव है। जहाँ भी भगवत्-कथा होती है, वे चले जाते हैं। क्या अगले शनिवार को तुम चलोगे ?"

बाबूराम राजी था।

आगामी शनिवार को स्कूल के बाद वे दोनों दक्षिणेश्वर के लिए निकले। वह सम्भवत: ८ अप्रैल, १८८२ का दिन था।[3] ऐसा कुछ संयोग बना कि

---

३. गुरुदास बर्मन (वही, पृ २६८) के अनुसार यह यात्रा

अहीरटोला में उन्हें रामदयाल चक्रवर्ती मिल गये, जो श्रीरामकृष्ण के पास जाया करते थे। उन लोगों ने दक्षिणेश्वर जाने के लिए एक नौका की। रामदयाल अपने साथ श्रीरामकृष्ण के खाने के लिए कुछ ले जा रहे थे।

चैत्र (मार्च-अप्रैल) में हुई थी। स्वामी सारदानन्द 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' (रामकृष्ण मठ, नागपुर, भा. ३, द्वितीय संस्करण, पृ. ९१) में कहते हैं, "श्रीरामकृष्णदेव के समीप नरेन्द्रनाथ के आगमन के कुछ दिनों बाद स्वामी प्रेमानन्द दक्षिणेश्वर आ गये थे। नरेन्द्र सर्वप्रथम नवम्बर, १८८१ में उनके पास आये थे। (वही, पृ. ५०)

'म' 'श्रीरामकृष्णवचनामृत (रामकृष्ण मठ, नागपुर) भाग १,,चतुर्थ सं.,पृ १०५ में कहते हैं,"बाबूराम अभी एक-दो ही बार दर्शन कर गये हैं," (२२ अक्तूबर १८८२)

मानदाशंकर दासगुप्ता कृत 'युगावतार श्रीरामकृष्ण' (बंगला, पृ.३७३) के अनुसार वह भाद्र-आश्विन (सितम्बर) का महीना था; आजकल के अन्य बहुत से प्रसिद्ध लेखकों ने अलग अलग तिथियाँ दी हैं--जैसे, 'स्वामी प्रेमानन्द—टीचिंग्ज़ एण्ड रेमिनिसेंसेज' (अंग्रेजी) (स्वामी प्रभवानन्द द्वारा सम्पादित, अद्वैत आश्रम, १९७०) पृ. ५ के अनुसार 'नवम्बर १८८२'; 'स्वामी प्रेमानन्द' (अंग्रेजी) स्वामी अशोकानन्द कृत (वेदान्त सोसायटी आफ नार्दर्न कैलिफोर्निया, १९७०), पृ. ४ के अनुसार '१८८२ का पतझड़ का मौसम था।' इन सब विभिन्न ग्रन्थों को देखते हुए तथा अधिक पुराने ग्रन्थों एव पाण्डुलिपियों को देखते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह यात्रा १८८२ के चैत्र महीने में किसी शनिवार को हुई थी। सम्भवत: वह तिथि २ अप्रैल थी।

रास्ते में राखाल ने बाबूराम से पूछा कि क्या वह रात में दक्षिणेश्वर में रुकना पसन्द करेगा। बाबूराम यह सोचकर कि सन्त छोटी सी कुटिया में रहते होंगे, कहने लगा, "क्या वहाँ हम लोगों के लिए जगह होगी ?"

"हो जायगी," राखाल ने उत्तर दिया।

"रात में हम लोग क्या खाएँगे ? क्या वहाँ पर कोई भोजनालय वगैरह है ?" बाबूराम ने पूछा। मुसकराते हुए राखाल ने उत्तर दिया, "किसी प्रकार हम लोग व्यवस्था कर लेंगे।" जब वे लोग दक्षिणेश्वर पहुँचे, तब सन्ध्या हो गयी थी। गंगा के नीले जल में रक्ताभ आकाश प्रतिबिम्बित हो रहा था। काली-मन्दिर का उच्च शिखर गंगातट की ओर के द्वादश शिव-मन्दिरों के साथ अनुपम शोभा बिखेर रहा था। वहाँ के सौन्दर्य और शान्त वातावरण से बाबूराम मुग्ध हो गया।

मन्दिरों में दर्शन के लिए जाने से पहले वे सीधे श्रीरामकृष्ण के कमरे में पहुँचे, पर वे अपने कमरे में नहीं थे। राखाल ने एकदम अन्दाज लगा लिया कि वे कहाँ होंगे। उन लोगों को वहाँ प्रतीक्षा करने के लिए कह वह श्रीरामकृष्ण की खोज में बाहर निकला। कुछ ही क्षणों बाद वह भावस्थ श्रीरामकृष्ण को खूब सावधानी से पकड़े हुए ला रहा था। राखाल उन्हें

रास्ता दिखलाते चल रहा था; जहाँ ऊँचा नीचा होता, वह आगाह कर देता। कमरे में प्रवेश करने के बाद भी श्रीरामकृष्ण भावावस्था में ही थे। वे छोटे तखत पर बैठे और धीरे धीरे उनको बाह्य चेतना लौटी।

नवागन्तुक चुपचाप कुछ समय तक सन्त को निहारता रहा। श्रीरामकृष्ण उस समय छियालीस वर्ष के थे, उनका कद मध्यम था, शरीर से कुछ क्षीणकाय थे। वे बहुत सीधे-सादे लगे। सबसे अधिक आकर्षक उनका मुखमण्डल था, जो दिव्य आनन्द से प्रदीप्त दिखलायी पड़ता था।

श्रीरामकृष्ण ने नवागन्तुक के सम्बन्ध में पूछा। रामदयाल ने उसका परिचय कराया। उससे श्रीराम-कृष्ण का मुखमण्डल प्रसन्नता से खिल उठा। वे बोले, "अच्छा, तुम बलराम के रिश्तेदार हो! तब तो तुम हमारे भी सम्बन्धी हो गये। बहुत अच्छा! तुम्हारा घर कहाँ पर है?"

बाबूराम-- "तड़ा-आँटपुर, महाराज।"

श्रीरामकृष्ण--"अच्छा, वह? तब तो तुम्हारे गाँव एक बार मैं जा चुका हूँ। झामापुकुर वाले कालू और भुलू उसी गाँव के हैं न?"

अपने दो मामा लोगों के नाम सुन बाबूराम चकित हो कहने लगा, "हाँ, महाराज; पर आप उनको कैसे जानते हैं?"

श्रीरामकृष्ण--"व रामप्रसाद मित्र के पुत्र हैं। जब मैं झामापुकुर में रहता था, तब दिगम्बर मित्र और उनके यहाँ जाया करता था।"

यद्यपि उस समय बाबूराम की उम्र बीस से कुछ ऊपर ही थी, पर वह पन्द्रह वर्ष से अधिक का नहीं लगता था। फिर अपने शान्त स्वभाव और नम्र व्यवहार के कारण वह सबको प्रिय था।[४]

श्रीरामकृष्ण ने तब बाबूराम का हाथ अपने हाथ मे लेकर कहा, "थोड़ा उजले में आओ। मैं तुम्हारा चेहरा ठीक से देखना चाहता हूँ।" व उस मिट्टी के दिये के पास ले गये और उसकी मद्धिम राशनी में उसके अग-प्रत्यंग के लक्षणों का अच्छा तरह से देखने लगे। ऐसा लगा कि श्रीरामकृष्ण उस जाँच से सन्तुष्ट हुए, क्योंकि उनके मुख स प्रशसा-सूचक उद्गार निकला, "अच्छा! अच्छा!" आगे उन्होंने कहा, "अच्छा, तुम्हारा हाथ तो बतलाओ!"

---

४ स्वामी अशोकानन्द (वही, पृ. ३) परिपक्व प्रेमानन्द के सम्बन्ध में लिखते हैं--"उनका शरार बहुत तना हुआ था--वाण की तरह। वे बहुत ऊँचे तो न थे. . . सम्भवत: पाँच फुट आठ इच रहे होंगे--और वे दुबले पतले थे. . .। उनका रग सुवर्ण की भाँति था--तुम लोगों ने (अमेरिका में) इस प्रकार का रग कभी नहीं देखा होगा। जब वे भावावस्था में होते, जैसा कि अकसर होता, उनका मुखमण्डल और शरीर का ऊपरी भाग तपे सोने के समान दमकने लगता; वह बड़ा हा अद्भुत दृश्य होता।"

उन्होंने बाबूराम के हाथ को अपनी हथेली पर रखकर तौला। इस परीक्षा से सन्तुष्ट हो श्रीरामकृष्ण ने कहा, "अच्छा है, सब ठीक है।" चूंकि शारीरिक बनावट से मानसिक वृत्तियों और आध्यात्मिक सम्भावनाओं का बहुत गहरा सम्बन्ध होता है, इसलिए श्रीरामकृष्ण नवागत मनुष्य के पूर्व संस्कारों को जानने के लिए ऐसे परीक्षण किया करते थे।[५] बाबूराम ने बाद में एक पत्र में लिखा था––"ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) शिष्यों को कई प्रकार से जाँच-परखकर तब स्वीकार किया करते थे..। वे अंग-लक्षण शास्त्र में निष्णात थे और इसलिए वे शिष्यों के नेत्र, हाथ, पैर

---

५. सारदानन्द : वही, पृ. १२६, "किसी व्यक्ति के पास आते ही वे उसकी ओर एक विशेष प्रकार का निरीक्षण करते थे। फिर यदि उसके प्रति उनका चित्त कुछ भी आकृष्ट होता, तो उससे साधारण भाव से धर्मालाप करते थे और उसे अपने पास आने जाने के लिए कहते थे। जितने दिन बीतते जाते और वह व्यक्ति उनके पास आता जाता रहता, उतना ही वे उसके अनजान में उसके शारीरिक अंग-प्रत्यंगादि की गठन-भंगी, मानसिक भाव, कामिनी-कांचन में आसक्ति और भोग-तृष्णा का परिणाम देखते रहते। उनके प्रति उसका मन कहाँ तक प्रकाशित हुआ है, उस पर सावधान दृष्टि रखकर उसके भीतर की सुप्त आध्यात्मिकता आदि के सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा पर पहुँचते थे।... उसके अनन्तर उस व्यक्ति के मन की कोई निगूढ़ बात जानने का प्रयोजन होने पर वे उसे अपनी योगदृष्टि से जान लेते थे।"

इत्यादि की बनावट परखा करते थे। वे कई तरीके जानते थे, जिनसे यह पता लग जाता था कि कोई वास्तव में सच्चा आध्यात्मिक जिज्ञासु है या नहीं।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीरामकृष्ण को बाबूराम के आगमन का और उसकी उच्च आध्यात्मिक सम्भावनाओं का पूर्वज्ञान था। एक बार उन्होंने कहा था कि प्रेम की मूर्ति श्री राधाजी ही आंशिक रूप से उसमें अवतरित हुई है। उन्होंने बाद में यह भी कहा था, "भाव में देखा था बाबूराम एक देवीमूर्ति हैं, गले में हार है एवं सखियाँ साथ में हैं। उसने स्वप्न में कुछ पाया है। उसकी देह शुद्ध है। थोड़ा कुछ (साधन) करने से उसका (श्रेयलाभ) हो जायगा।"[६] उस युवक के चरित्र की पवित्रता के बारे में श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "बाबूराम की हड्डी भी पवित्र है। कोई भी अपवित्र विचार उसके चित्त में कभी नहीं उठ सकता।"[७] इस प्रकार नवागन्तुक की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को परखने के बाद श्रीरामकृष्ण का, जैसा

---

६. 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भाग २, पंचम संस्करण, पृ. १५५।

७. वही, पृ. २२३, 'म' और ठाकुर के बीच हुए इस वार्तालाप से उसके सम्बन्ध में ठाकुर की धारणा और स्पष्ट हो जायगी—"बाबूराम का घर कहाँ है, यह मैं कल समझा। इसीलिए तो इसे रखने की इतनी कोशिश कर रहा हूँ।

कि उनका स्वभाव था, प्रारम्भ से ही उसके साथ एक विशेष आन्तरिक सम्बन्ध बन गया और उन्होंने इस सम्बन्ध को सदा बनाये रखा।

उसके बाद रामदयाल की ओर मुड़ते हुए श्रीरामकृष्ण ने पूछा, "क्या तुम जानते हो नरेन कैसा है? मैंने सुना है उसकी तबीयत ठीक नहीं है!"

रामदयाल—"अब वह ठीक हो गया है, ऐसा मैंने सुना है।"

श्रीरामकृष्ण—"देखो, बहुत दिनों से वह यहाँ नहीं आया है। उसको देखने के लिए मैं बहुत व्याकुल हूँ। उसे एक दिन यहाँ आने के लिए कहना। तुम्हें याद तो रहेगा न?"

रामदयाल—"जरूर, मैं याद रखूँगा। मैं निश्चित रूप से उससे कह दूँगा।"

बाद में जैसा कि बाबूराम ने बतलाया था—'कुछ घण्टे बहुत आनन्द से धार्मिक चर्चा में बीत गये।' उस चर्चा की पूरी जानकारी अब उपलब्ध नहीं है।

चिड़िया समय समझकर अण्डे फोड़ती है। बात यह है कि ये सब शुद्धात्मा लडके हैं कभी कामिनी और कांचन में नही पड़े। है न? . . .

"नयी हण्डी है, दूध रखा जाय तो बिगड़ नहीं सकता।

"बाबूराम के यहाँ रहने की जरूरत भी है। कभी कभी मेरी अवस्था ऐसी हो जाती है कि उस समय ऐसे आदमियों का रहना जरूरी हो जाता है।"

तब रात्रि के दस बज गये थे। श्रीरामकृष्ण ने रामदयाल द्वारा लाये प्रचुर खाद्य सामग्री में से थोड़ा सा ही खाया। शेष उन तीनों ने बाँटकर खा लिया। भोजनोपरान्त श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा कि वे लोग कहाँ सोना पसन्द करेंगे--उनके कमरे में या बाहर बरामदे में।

राखाल ने कमरा पसन्द किया, रामदयाल ने बाहर बरामदे में अपना बिस्तर लगा दिया। बाबूराम ने बाहर रामदयाल के पास सोना पसन्द किया, क्योंकि उसने सोचा कि उसके अन्दर सोने से श्रीरामकृष्ण को असुविधा होगी। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अन्दर सोने के लिए फिर से पूछा, पर उन लोगों ने बाहर ही सोने की अपनी इच्छा प्रकट की। बाबूराम और रामदयाल पूरबवाले बरामदे में लेट गये। चूँकि ग्रीष्म काल का प्रारम्भ ही था इसलिए रात्रि में न अधिक ठण्ड थी और न अधिक गर्मी। शीघ्र ही निद्रा ने उन्हें घेर लिया।

करीब एक घण्टे बाद चौकीदारों की आपसी वार्तालाप से बाबूराम की नींद उचट गयी। उसने उस समय एक बड़ा ही विचित्र दृश्य देखा। श्रीरामकृष्ण शराबी की तरह झूमते हुए अपनी पहनने की धोती बगल में दबाये उन लोगों के पास आ खड़े हुए। रामदयाल को सम्बोधित कर कहने लगे, "ऐ जी, सो गये?"

रामदयाल--"नहीं महाराज, अभी नहीं ।"

श्रीरामकृष्ण ने बहुत आकुल हो लड़खड़ाते शब्दो में कहा, "उसे एक बार भेंट कर जाने के लिए जरूर कहना । ऐसा लग रहा है मानो कोई मेरे प्राणों को निचोड़े डाल रहा है ।" ऐसा कहकर उन्होंने (अपनी बगल से निकालकर) कपड़ा निचोड़कर बताया कि इस तरह मेरे हृदय को कोई निचोड़ रहा है । उनकी हर बात से नरेन्द्रनाथ को देखने के लिए उनकी छटपटाहट प्रकट हो रही थी । उनकी बालक सदृश सरलता से रामदयाल परिचित थे, इसलिए उन्होंने कई प्रकार से सान्त्वना देते हुए कहा, "मैं कल सबेरे ही उसके पास जाऊँगा और उससे आपको देख जाने के लिए प्रार्थना करूँगा । उसे मैं बतलाऊँगा कि आप उसके लिए कितने आकुल हैं ।"

श्रीरामकृष्ण--"हाँ, हाँ ! उसके लिए मेरा चित्त बहुत व्याकुल है । उससे मिलकर उसे आने के लिए कहना ।"

रामदयाल ने उन्हें भरोसा दिया, "जैसे ही सुबह होगी, मैं उसके पास जाऊँगा । आप चिन्तित न हों । वह ठीक ही है । जैसे ही वह आपकी आकुलता के सम्बन्ध में सुनेगा, शीघ्र ही यहाँ आ जाएगा ।"

"नरेन्द्र के लिए इन महात्मा में कितना प्रेम है, कितनी तड़प है," बाबूराम ने अपने मन में विचार किया । 'पर कितना आश्चर्य है कि नरेन्द्र की तरफ

से कोई समाचार नहीं है ।"[८]

श्रीरामकृष्ण अपने कमरे की ओर बढ़े, पर लौट-कर रामदयाल से कहने लगे, "उससे जरूर कहना, एक दिन यहाँ आने के लिए उससे जरूर कहना ।" उन्होंने इन शब्दों को दुहराया और अपनी शय्या की तरफ डगमगाते कदमों से वापस चले गये । लगभग एक घण्टे बाद वे फिर आ उपस्थित हुए; इस समय वे और भी अधिक नशे में डूबे लग रहे थे, वे कहने लगे, "देखो, नरेन स्वयं नारायण जैसा पवित्र है । उसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकता । उससे विरह की वेदना इतनी अधिक है कि लगता है मानो कोई इस प्रकार मेरा हृदय निचोड़ रहा हो ।" उन्होंने पुनः अपने कपड़े को इस प्रकार निचोड़कर अपनी आकु-लता जतलायी । वे बड़ी मुश्किल से अपने को सँभाल सके । उन्होंने पुनः कहा, "उसके लिए मेरा ऐसी

---

८. बाद में स्वामी प्रेमानन्द कहा करते थे, "मैं तुम्हें भला क्या प्रेम दे सकता हूँ ? श्रीरामकृष्ण से पाये प्रेम का एक सौवाँ भाग भी नहीं । अहा, वे हम लोगों से कितना प्रेम करते थे !" (Swami Premananda--Teachings and Reminiscences, पृ. १३९)

वे पुनः कहते, "मैं तो श्रीरामकृष्ण के प्रेम में बँधकर उनका गुलाम बन गया हूँ; अपने प्रेम द्वारा उन्होंने हम सबको बाँध लिया था । वे अन्दर-बाहर प्रेम ही प्रेम थे । यहाँ तक कि उनकी गाली भी उनके प्रेम से निकलती थी ।" (वही, पृ. ५१)

अवस्था हो गयी है उसे एक बार यहाँ जरूर आना चाहिए।" इस घटना की प्रायः एक एक घण्टे बाद रात-भर पुनरावृत्ति होती रही।[९] बाबूराम और रामदयाल जो इस घटना को देख रहे थे, रातभर सो न सके।

दूसरे दिन भोर में बाबूराम ने श्रीरामकृष्ण को एकदम दूसरे रूप में पाया। वे अपने कमरे में बैठे हुए थे, मुखमण्डल पर आनन्द और शान्ति दिखलायी पड रही थी, यह दृश्य पिछली रात से सर्वथा भिन्न था। श्रीरामकृष्ण ने बाबूराम को पंचवटी घूम आने के लिए कहा। वहाँ पहुँचकर वह आश्चर्य से भर उठा था, क्योंकि इसी प्रकार के स्थान की कल्पना वह बचपन में अपने दिवा-स्वप्नों में किया करता था।[१०] वृक्षों का वह झुरमुट और कुटिया उसे अत्यन्त परिचित सी लगी। वैसे उसने इस बात को अपने तईं रखा और श्रीरामकृष्ण के पास लौट आया। उनके पूछने पर उसने सिर्फ इतना कहा कि वह बहुत अच्छा स्थान है। तब श्रीरामकृष्ण ने उसे काली-मन्दिर के दर्शन कर आने के लिए कहा। उसने वैसा किया और लौटकर विदा माँगी। उनकी चरणधूलि ले वह जाने

९. यह गुरुदास बर्मन (वही, पृ. २६८-७०) द्वारा लिखी घटना के आधार पर है।

१०. 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका' भाग १, पृ. २१०: "आठवें वर्ष में वह कल्पना करते थे कि किसी संन्यासी के साथ, लोगों की दृष्टि से ओट हो, वृक्षलतावृत एक छोटे से आश्रम में काल व्यतीत कर रहे हैं।"

के लिए उद्यत हुआ कि ऐसे में श्रीरामकृष्ण ने अपनी विशिष्ट सम्मोहक मुसकान के साथ कहा, "क्यों फिर से आएगा न ?" बाबूराम ने हामी भरी और राखाल को छोड़कर, जो श्रीरामकृष्ण के पास रुकनेवाला था, वह कलकत्ता लौट गया। यात्रा अविस्मरणीय थी। श्रीरामकृष्ण ने कुछ किया था, जो बाबूराम व्यक्त नहीं कर सकता था, पर जिसका उस पर अमिट प्रभाव पड़ा था और जिसे भुलाना सम्भव नहीं था, जैसे कि पूनम के चाँद को एक बार देख लेने पर भुलाना सम्भव नहीं होता। श्रीरामकृष्ण उसे माधुर्य की साक्षात् मूर्ति प्रतीत हुए थे।"[११]

कहानी आगे बढ़ती है कि बाबूराम उसके बादवाले रविवार को ही दक्षिणेश्वर आता है और देखता है कि नरेन्द्र, राखाल और अन्य लोग पंचवटी में पिकनिक मना रहे हैं। बाबूराम का नरेन्द्र से परिचय हुआ। नरेन्द्र की बहुमुखी प्रतिभा और मधुर स्वभाव ने जल्दी ही बाबूराम को जीत लिया।

अब बाबूराम बारम्बार दक्षिणेश्वर की यात्रा करने

---

११. स्वामी प्रेमानन्द का २६।६।१९१४ का पत्र (Teachings and Reminiscences, पृ. २२१-२): "हमारे ठाकुर ने अपने जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक अपनी दैवीलीला का माधुर्य प्रकट किया था। उन्होंने कभी किसी अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन नहीं किया. . .। ठाकुर की लीला, आद्योपान्त, माधुर्य का ही प्रकटीकरण थी; वे माधुर्य की मूर्ति ही थे।"

लगे। उन्हें स्कूल और घर नीरस एवं अरुचिकर लगने लगे। श्रीरामकृष्ण का पुत्रवत् स्नेह इस युवक के मानस-पटल पर छा गया और वह उनके स्नेहपाश में बँध गया। बाद में बाबूराम ने कहा था, "वे (श्रीरामकृष्ण) करुणा की प्रतिमूर्ति थे। उनकी कृपा की मैं थाह नहीं पा सकता।" जगन्माता के प्रति श्रीरामकृष्ण के समर्पण को देख वे कम प्रभावित नहीं हुए थे; क्योंकि बाद में उन्होंने कहा था, "उन्होंने (श्रीरामकृष्ण ने) जगन्माता को अपना बकलमा उसी प्रकार दे दिया था, जिस प्रकार गिरीश बाबू (गिरीशचन्द्र घोष) ने श्रीरामकृष्ण को अपना बकलमा दिया था।"[१२] धीरे धीरे यह धारणा बाबूराम के भीतर दृढ़ होने लगी कि श्रीरामकृष्ण से उनका सम्बन्ध इसी जन्म का नहीं है वरन् वह शाश्वत है। वे अपने अन्तस्तल में यह अनुभव करने लगे कि वे श्रीरामकृष्ण के अपने हैं।[१३] उनके साथ रहने की इच्छा उनमें

१२. स्वामी प्रेमानन्द : 'श्रीरामकृष्णदेव' (बंगला), तृतीय संस्करण।

१३. उन्होंने १५।८।१९१५ को स्वामी अभेदानन्द को लिखा था (Teachings and Reminiscences, पृ. ९४) : "क्या तुम्हें स्मरण है जब हम दोनों काशीपुर उद्यान में थे और ठाकुर ने कहा था, 'तुम लोगों का सम्बन्ध आत्मा का आत्मा से है' ...? भाई, हमेशा याद रखो हम लोग बन्दर के समान हैं, जिसे वे नचा रहे हैं। उनके रामावतार के समय हम लोगों के पूँछ थी; इस समय अन्तर इतना ही है कि हम पूँछविहीन हैं!"

बलवती हो उठी। अन्त में एक संयोग ऐसा आय जिसने उनकी समस्या सुलझा दी। एक दिन बाबूराम की माँ, जो स्वयं श्रीरामकृष्ण की बहुत बड़ी भक्त थी, श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए आयीं। तब श्रीरामकृष्ण ने उनसे बाबूराम को उनके पास छोड़ देने के लिए कहा। भक्तिमती माता ने बिना किसी हिचक के इसके लिए अपनी सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी। इसके बाद से बाबूराम हरदम श्रीरामकृष्ण के पास रहने लगे। कुछ वर्षों बाद जब उन्होंने सन्यास ग्रहण किया, तब से वे 'स्वामी प्रेमानन्द' के नाम से परिचित हुए, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'दैवी प्रेम का आनन्द'। इसके बाद जब वे भक्तों के बीच परिचित होने लगे, तब उन लोगों ने इस दैवी प्रेम के आनन्द को उनमें वास्तव में प्रकट होते अनुभव किया था। भक्तों ने यह पाया था कि उनके पास अपना कुछ नहीं था और वे अपने लिए कुछ चाहते भी न थे, क्योंकि वे श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द से भरे भरे थे।

अभिमान की जड़ मरकर भी नहीं मरती। जैसे, बकरा काटे जाने पर मुण्ड धड़ से अलग हो जाने पर भी वह कुछ देर तड़पता रहता है।

— श्रीरामकृष्ण

जो अवतरेउ भूमि भय हारन

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने दिल्ली के बिड़ला लक्ष्मीनारायण मन्दिर में 'लक्ष्मण-चरित्र' पर ४ से ११ अप्रैल १९७३ तक आठ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख इस क्रम का छठा प्रवचन है।)

टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री नन्दकिशोर स्वर्णकार ने किया है, जो दिल्ली की सालिड स्टेट फिजिक्स लेबोरेटरी में कार्यरत हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। ---स०)

पिछली चर्चाओं में हमने देखा कि श्री लक्ष्मण की भूमिका के बिना भगवान् राम का चरित्र अधूरा है। भगवान् राम की भूमिका किसी प्रकार की भी क्यों न हो, श्री लक्ष्मण उसमें प्रेरक हैं। शृंगार-रस में लक्ष्मण मौन हैं, निःशब्द हैं। वे जानते हैं कि अनुराग में शब्द बाधक है। अनुराग-रस में डूबने के लिए काल की अनुभूति की आवश्यकता नहीं। जैसे घण्टा बज उठा। उसकी ध्वनि कानों में गयी और व्यक्ति को समय का बोध हुआ। अब यह समय का बोध व्यवहार के लिए तो आवश्यक है, पर भक्तिरस में डूबने में वह बाधक है। काल का बोध जितना मिटेगा, व्यक्ति उतना ही भक्तिरस में डूबेगा। व्यक्ति से बड़ा देश है और देश से बड़ा काल, इसलिए व्यक्ति को देश और काल दोनों की मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए, लेकिन जब वह कालातीत ईश्वर में प्रवेश करना

चाहे, तब उसे काल की विस्मृति करनी चाहिए। इसलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि जब भगवान् राम का अवतार हुआ तो एक महीने का दिन हो गया, मानो घड़ी की गति ही रुक गयी। सूर्य आकाश की, विराट् की घड़ी है और श्री राम के अवतरण के समय उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है। इसलिए पुष्पवाटिका में श्री लक्ष्मण शृंगार-रस में सहायक तो होते हैं, पर स्वयं अपनी उपस्थिति का भान नहीं होने देते। आगे चलकर जब श्री सीताजी की सखियाँ उपस्थिति का भान कराती हैं, तब वियोग होता है। सखियों को काल का ध्यान हो आता है और उन्हें लगता है कि अब अत्यन्त विलम्ब हो गया, शीघ्र लौट चलना चाहिए—"भयउ बिलंबु मातु भय मानी" (१।२३३।७)।

तो, लक्ष्मणजी का पुष्पवाटिका में यह जो मौन है, वह अनुराग की भूमिका के सर्वथा उपयुक्त है। प्रसंग चल रहा था कि श्री लक्ष्मण प्रभु को लताकुंज में लेकर जाते हैं। सखी श्री राम को फूल चुनते हुए देखकर सीताजी को बताने के लिए गयी थी, वह जब सीताजी को अन्य सखियों के साथ लेकर वापस आती है, तो श्री राम वहाँ नहीं दिखते, जहाँ वह उन्हें देख गयी थी। वह व्याकुल होकर कहती है कि मैंने तो उन्हें यहीं पर देखा था, पता नहीं कहाँ चले गये! इतने में उन लोगों को लता की ओट में श्री राम दिखायी देते हैं। गोस्वामीजी यह तो स्पष्ट नहीं लिखते

कि लताकुंज में क्या हो रहा था, पर जब उसमें से श्री राम प्रकट होते हैं, तब लगता है कि श्री लक्ष्मण ने वहाँ पर अपनी भूमिका सम्पन्न कर ली है --निःशब्द और विरागी रहकर। विरागी इस अर्थ में कि वे शृंगार-रस की भूमिका में रहकर भी शृंगार-रस के उपभोक्ता नहीं हैं। श्री राम जिस समय लताकुंज से प्रकट होते हैं, उसका एक चित्र प्रस्तुत करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि सीताजी नेत्र बन्द कर श्री राम का ध्यान कर रही हैं और सखी कहती है कि एक बार नेत्र खोलकर दर्शन तो कर लीजिए। यहाँ पर गोस्वामीजी ने प्रभु की जो झाँकी प्रस्तुत की है, वह प्रभु की अन्य झाँकियों से भिन्न है। जो लोग 'राम-चरितमानस' को अर्थ और विचार की दृष्टि से बहुत ध्यान से पढ़ते हैं, वे जानते होंगे कि उसमें भगवान् राम की अनेक झाँकियाँ हैं और प्रत्येक झाँकी उनका में एक अलग रूप है। जब श्री राम किसी भक्त के सामने प्रकट होते हैं, तब उसकी दृष्टि उनके चरणों की ओर चली जाती है। जब वे किसी दूसरे के सामने आते हैं, तब वह उनके श्रीमुख को देखने लगता । कोई उनकी भुजाओं की ओर निहारने लगता है। किसी की दृष्टि सर्वप्रथम प्रभु के हृदय की ओर चली जाती है। भावना को प्रकट करने की यह जो शैली है, उसे गोस्वामीजी एक भिन्न ढंग से लताकुंज से प्रकट हुए प्रभु की झाँकी में अभिव्यंजित करते हैं।

एक व्यक्ति, एक भक्त, जो दास्य भाव से भगवान् राम की आराधना करता है, जब श्री राम की ओर देखता है, तो उसकी दृष्टि स्वभावतः उनके चरणों की ओर जाती है। श्री हनुमानजी ने जब उन्हें पहली बार देखा था, तो उनका ध्यान सबसे पहले चरणों की ओर गया था, उन्होने कहा था--आपके चरण तो बड़े कोमल हैं--

कठिन भूमि कोमल पद गामी।
कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी ॥ ४।०।८

जब मनु के सामने प्रभु प्रकट हुए, तब मनु ने दृष्टि उठाकर सबसे पहले प्रभु के चरणों को नहीं देखा। क्यों? इसलिए कि हनुमानजी की दृष्टि में प्रभु स्वामी थे पर मनु उन्हें अपना पुत्र बनाने की कामना से प्रेरित हो तप कर रहे थे। इसीलिए जब मनु दृष्टि उठाकर देखते हैं, तब--

सरद मयंक बदन छबि सींवा।
चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा ॥ १।१४६।१

--प्रभु का मुख और कपोल उन्हें पहले दिखायी पड़ता है। एक माँ या पिता जब अपने बालक की ओर देखेगा, तो वह उसके चरणों को थोड़े ही पहले देखेगा, उसकी दृष्टि तो बालक के मुख की ओर ही जाएगी। और जब विभीषण भगवान् राम को देखते हैं, तो न तो चरणों में उनकी दृष्टि जाती है, न मुख में, वे तो प्रभु की भुजाएँ पहले देखते हैं--

दूरिहि ते देखे द्वौ भ्राता।
नयनानंद दान के दाता ॥
भुज प्रलंब . . . . । १।२४४। २, ४

——देखते हैं कि प्रभु की भुजाएँ कितनी लम्बी हैं ! यह मित्र की दृष्टि है। विभीषण तो सखा हैं न, सखा का ध्यान भगवान् राम की लम्बी भुजाओं पर जाता है, जिनसे वे सखा को अपने आलिंगन-पाश में बाँध मैत्री का परिचय देंगे।

पर पुष्पवाटिका में जब प्रभु लताकुंज से प्रकट होते हैं, तो सखियों की दृष्टि न तो उनके चरणों पर जाती है, न मुख पर और न भुजाओं पर, वह तो उनके मस्तक पर जाती है। यह लक्ष्मणजी की रचना का आकर्षण था। जब सखी के कहने से सीताजी अपने नेत्र खोलती हैं, तब क्या देखती हैं ?——

मोरपंख सिर सोहत नीके ।
गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के ॥
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए ।
श्रवन सुभग भूषन छबि छाए ॥ १।२३२।२-३

——श्रीराम के मस्तक पर मोरपंख सुशोभित हैं और उनके बीच बीच में फूलों की कलियों के गुच्छे लगे हैं। इसमें श्री लक्ष्मण की भूमिका है। उनके द्वारा की गयी रचना की दो वस्तुएँ इतनी महत्त्वपूर्ण हो गयीं कि सबसे पहले सखियों का ध्यान उन्हीं दो वस्तुओं की ओर जाता है——मयूरपंख और फूल की

कलियाँ। मयूरपख तो श्रीकृष्ण का बहुत काल तक संग। रहा। वृन्दावन की सारी लीला का हर क्षण मयूरपख से जुड़ा हुआ है। बाद मे मथुरा-द्वारका में भले ही श्रीकृष्ण मयूरपख न लगाते हो, पर वृन्दावन मे तो वे नित्य धारण करते रहे। श्री राम के चरित्र मे मयूरपख का वर्णन और कहीं नहीं आता है, केवल पुष्पवाटिका में, अनुराग के प्रसग मे वह उनके मस्तक पर दिखायी दे रहा है। गोस्वामीजी यहाँ पर भाषा-शास्त्र की दृष्टि से एक अलग कल्पना करते हैं। 'दोहावली रामायण' में उनसे पूछा गया कि मयूर पक्षी को मोर क्यों कहते हैं? भाषाविद् उत्तर में कहेगा कि मयूर शब्द बिगड़कर मोर हो गया। उसकी दृष्टि भाषा पर, व्याकरण पर है। पर भक्त की दृष्टि भाषा और व्याकरण से आगे बढ़कर भाव पर जाती है। गोस्वामीजी श्लेष से मोर का एक अर्थ लेते हैं 'मेरा'। जब हम किसी वस्तु को अपना कहना चाहते हैं, तो 'मोर' शब्द का प्रयोग करते हैं; यथा "मोर दास कहाइ नर आसा" (७।४५।३)। गोस्वामीजी प्रश्न उठाते हैं कि इस मयूर पक्षी में कौनसा ऐसा गुण है कि सारे संसार के लोग इसे 'मोर-मोर' कहते हैं? उन्हें लगता है कि मयूर में तो कोई गुण ही नहीं है। 'तन विचित्र'--उसका शरीर देखो तो विचित्र है, लम्बाई-चौड़ाई में कोई सन्तुलन नहीं। फिर, 'कायर बचन'--उसकी बोली

सुनो तो उसमें कायरता है। 'अहि अहार'––और उसका भोजन देखो तो साँप का भक्षण करता है। तो, शायद उसका हृदय अच्छा हो ? नहीं, वह भी अच्छा नहीं––'चित घोर'। जब उसमें कोई गुण ही नहीं, तब भला उसे 'मोर' क्यों कहते हैं ? गोस्वामीजी को पुष्प-वाटिका की याद हो आती है और वे कह उठते हैं––

सुन बिचित्र कायर बचन अहि अहार चित घोर।
जब ते हरि भये पक्षधर तब ते कह सब मोर ।।

––जब से भगवान् ने उसका पक्ष धारण कर लिया तब से लोग उसे 'मोर-मोर' कहने लगे ! भले ही किसी में न्यूनता हो, कमी हो, पर जब भगवान उसे स्वीकार कर लेते हैं, तो सभी उसे अपना बना लेते हैं।

अच्छा, तो श्री लक्ष्मण ने भगवान् के सिर पर मोरपंख लगाने के लिए यही स्थान क्यों चुना ? अयोध्या में तो कभी उन्होंने उनके मस्तक पर मोर पंख नहीं लगाया। वास्तव में श्री लक्ष्मण इस श्रृंगार के द्वारा एक नयी भूमिका प्रस्तुत करते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि यदि कोई भगवान् का मोर बनना चाहे, तो उसे अयोध्या में नहीं, जनकपुरी में जन्म लेना चाहिए। जो भक्ति का मोर होगा, वही राम का मोर होगा ; जो भक्ति का अपना नहीं होगा, वह भगवान् का भी अपना नहीं होगा। भगवान् का मोर वही होगा, जो भक्ति की वाटिका में पालित है, जो भक्ति का पक्षधर है। गोस्वामीजी के लिए पक्षी

पक्षपात का प्रतीक है। भक्ति का अर्थ ही है पक्षपात। गोस्वामीजी उत्तरकाण्ड में संकेत देते हैं कि भक्ति के आचार्य काकभुशुण्डिजी पक्षी हैं। पक्षी शब्द के दो अर्थ होते हैं --एक तो आकाश में उड़नेवाला पक्षी और दूसरा वह, जिसके हृदय में किसी के प्रति पक्षपात हो। ज्ञानी निष्पक्षता का दावा करता है, पर भक्त ऐसा दावा नहीं करता। भक्त तो कहता है कि हम पक्षपाती हैं, और जब भक्त पक्षपाती बनता है, तो भगवान् पक्षधर बनते हैं। न तो भक्त निष्पक्ष है और न भगवान् ही। भगवान् तो श्रीमद्भागवत में कह देते हैं-- "मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि" (९।४।६८)-- 'वे (भक्त) मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता।' तो, पुष्पवाटिका में साक्षात् पराभक्तिस्वरूप किशोरीजी के सम्मुख जब विरागी और निष्पक्ष ब्रह्म प्रकट होता है, तो वह अनुरागी और पक्षपात से युक्त हो जाता है और अपने माथे पर मोरपंख धारण कर लेता है। यह मोरपंख ईश्वर के अनुराग को ही प्रकट करता है। सीताजी का भगवान् राम के प्रति अनुराग तो प्रकट ही है। जब वे श्री राघवेन्द्र के सौन्दर्य को देखती हैं, तो उनका प्रभु के प्रति अनुराग उनके हाव-भाव से प्रकट हो जाता है। पर श्री राम का उनके प्रति अनुराग है या नहीं? सखियाँ अपने वर्णन के माध्यम से सीताजी को श्री

राम के अनुराग के प्रति आश्वस्त करती हैं। वे सीताजी से कहती हैं--जरा मोरपख को देखिए! उनका तात्पर्य यह था कि जब श्री राघवेन्द्र आपकी वाटिका के मोर के पंख को इतना सन्मान दे रहे हैं कि उसे सिर पर धारण कर लिया है, तब फिर वे आपको कहाँ पर धारण करेंगे इसकी कल्पना कर लीजिए। जो व्यक्ति आपकी छोटी से छोटी वस्तु का इतना सन्मान करता है, वह फिर आपका कितना सन्मान न करेगा! तो, पुष्पवाटिका का मोरपंख और पुष्प की कलियाँ यही संकेत करते हैं कि भगवान् भक्तों के पक्षधर हैं। और भगवान् को इस प्रकार पक्षधर बनाने का कार्य श्री लक्ष्मण के द्वारा सम्पन्न होता है। वे मौन और निःशब्द रहकर पुष्पवाटिका में अपनी यह महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न करते हैं।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि जो लक्ष्मणजी पुष्पवाटिका के श्रृंगार-रस के प्रसंग में इतने निःशब्द हैं, वे अन्य प्रसंगों में इतने मुखर कैसे हो उठते हैं! यही लक्ष्मणजी की भूमिका की विशिष्टता है। हर भूमिका के अनुरूप वे अपने को ढाल लेते हैं। वैसे तो काम, क्रोध और लोभ की बार बार निन्दा की जाती है। 'रामचरितमानस' में उनकी निन्दा करते हुए कहा गया है--" तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ" (३।३८क)। फिर गीता में भी "काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः। महाशनो महापाप्मा

विद्धयेनमिह वैरिणम्" (३।३७) कहकर उनकी निन्दा की गयी है। लेकिन जनकपुर के प्रसंग की विलक्षणता यह है कि वहाँ तीन प्रसंगों में इन्हीं तीन विकारों की स्वीकृति है। पुष्पवाटिका में काम की स्वीकृति है, तो धनुषयज्ञ में क्रोध की और विवाह के मण्डप में लोभ की। इसका तात्पर्य क्या है ? यह सही है कि काम, क्रोध और लोभ त्याज्य हैं, पर प्रश्न यह है कि क्या कोई व्यक्ति या समाज ऐसा हो सकता है, जो काम, क्रोध और लोभ से शून्य हो ? यह सम्भव नहीं; क्योंकि कामशून्य समाज में कोई सृष्टि नहीं हो सकेगी, क्रोधशून्य समाज में किसी के अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने की वृत्ति नहीं हो सकेगी और लोभविहीन समाज में किसी निर्माण की प्रेरणा नहीं प्राप्त हो सकेगी। काम, क्रोध और लोभ तो स्वाभाविक रूप से व्यक्ति के जीवन में रहते हैं। इसीलिए गोस्वामीजी उत्तरकाण्ड में उनकी तुलना वात, पित्त और कफ से करते हैं। कहते हैं, जैसे शरीर के संचालन के लिए वात, पित्त और कफ की आवश्यकता होती है, वैसे ही मन में भी वात, पित्त और कफ हैं। वे क्या हैं——

काम बात कफ लोभ अपारा।

क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ ७।१२०।३०

—— काम वात है, क्रोध पित्त और लोभ कफ। तो, जैसे वात, पित्त और कफ में से किसी एक के कुपित होने से व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है, वैसे ही जब काम,

क्रोध या लोभ तीव्र हो जाता है, तब व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन में अशान्ति या अस्वस्थता पैदा हो जाती है। जब शरीर में कफ, वात या पित्त की प्रबलता होती है, तो रोग उत्पन्न होता है और हम दवा के लिए वैद्य के पास जाते हैं। वैद्य दवा देकर कफ, वात और पित्त को नष्ट नहीं करता, बल्कि इन तीनों को सम करने का प्रयत्न करता है। यदि वैद्य ऐसा सोचे कि कफ, वात और पित्त ही रोग के कारण हैं, इसलिए चलो, इन तीनों को नष्ट ही कर दें, तब तो रोग के साथ रोगी भी मिट जायगा। शरीर में यदि कफ, वात और पित्त न रहें, तो व्यक्ति भी जीवित नहीं रहेगा। इसलिए वैद्य का कार्य यह है कि वह कफ, वात और पित्त को मिटाये नहीं, अपितु उनकी समता बनाये रखे। इसी प्रकार, व्यक्ति या समाज के मानसिक सन्तुलन के लिए काम, क्रोध और लोभ को नष्ट करना नहीं है, अपितु उनको सन्तुलित बनाना है। यदि सन्तुलित न हों तो काम, क्रोध और लोभ ही क्या, ब्रह्मचर्य भी घातक हो जाता है।

इस सन्दर्भ में एक प्रश्न उठता है ––ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है या विवाह? 'रामचरितमानस' में आपको दो पात्र ऐसे मिलेंगे, जिनमें एक जब विवाह करना चाहता था, तो प्रभु ने करने नहीं दिया और दूसरा जो विवाह करना ही नहीं चाहता था, उसे विवाह करने के लिए बाध्य किया। प्रथम थे नारदजी और दूसरे,

शंकरजी। यह बड़ी विचित्र बात है! नारदजी विवाह के लिए इतने व्यग्र हैं कि स्वयं भगवान् से जाकर कहते हैं कि अपनी सुन्दरता मुझे दे दीजिए, जिससे मेरा विवाह शीघ्र हो जाय——

आपन रूप देहु प्रभु मोही।
आन भाँति नहिं पावौं ओही ॥ १।१३१।३

—— और भगवान् ऐसी बाधा देते हैं कि उन्हें बन्दर की आकृति दे देते हैं तथा विश्वमोहिनी को स्वयं वरण करके ले जाते हैं। दूसरी ओर शंकरजी समाधि में बैठे हुए हैं, उनके सामने प्रकट होकर कहते हैं कि मैं आपसे माँगने के लिए आया हुआ हूँ और आप वह मुझे दीजिए। शंकरजी से भगवान् क्या माँगते हैं?

अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मोपर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि माँगें देहु ॥ १।७६

—— आप पार्वतीजी से विवाह कर लीजिए। तभी तो जब भगवान् राम सीताजी के विरह में विलाप कर रहे थे, नारदजी ने उनसे पूछ दिया था——

तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा।
प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ॥ ३।४२।३

नारदजी का तात्पर्य यह था कि आपने शंकरजी से विवाह के लिए आग्रह किया और जब मैं स्वेच्छा से विवाह करना चाहता था, तो आपने नहीं करने दिया। ऐसा क्यों? इस पर भगवान् राम ने व्यंग्य-भरा मीठा उत्तर दिया था——

मरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी ।
बालक सुत सम दास अमानी ।। ३।४३।८

—शंकरजी मेरे बड़े बेटे हैं, ज्ञानी हैं और तुम नन्हे बालक हो, भक्त हो ! इसमें व्यंग्य क्या है ? प्रौढ़ लड़का विवाह न करे, तो घरवाले बाध्य करते हैं, पर यदि नन्हा बच्चा विवाह की चर्चा चलाए, तो उसकी बात घरवाले थोड़े ही सुनते हैं ! बच्चा यह थोड़े ही जानता है कि विवाह क्या होता है। वह यह भी नहीं समझता कि किससे विवाह करना चाहिए और किससे नहीं। वह तो विवाह के ताम-झाम और फौज-फटाके को देखकर ही विवाह के लिए तैयार हो जाता है। अगर उससे पूछा जाय कि किससे विवाह करोगे, तो शायद वह ऐसे व्यक्ति का नाम ले दे कि बड़े होने पर उसे सोचने में भी संकोच लगे कि मैंने किसका नाम ले दिया। प्रभु का तात्पर्य यह था कि नारद, यदि तुम बड़े बच्चे होते, तो क्या मेरी माया से विवाह करने की बात सोचते ? जब तुमने मेरी माया से विवाह करने का संकल्प किया, तो उसी से मैं समझ गया कि तुम निरे बालक हो। नन्हा बालक यदि विवाह करना भी चाहे, तो उसे रोक देना चाहिए, क्योंकि वह नहीं समझता कि विवाह क्या है। इसीलिए मैंने तुम्हें विवाह नहीं करने दिया।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रश्न यह नहीं कि ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है या काम, प्रश्न यह है कि किस परि-

स्थिति में व्यक्तिविशेष के लिए क्या श्रेष्ठ है। शंकरजी की निष्कामता संसार के लिए घातक बन गयी थी। आप वह कथा जानते होंगे कि कैसे तारकासुर ने अपनी तपस्या से ब्रह्माजी को प्रसन्न कर वरदान माँगा कि मैं किसी के हाथों न मरूँ। जब ब्रह्माजी ने ऐसा वरदान देने में असमर्थता प्रकट की, तो उसने कहा—अच्छा, ठीक है, यदि मैं मरूँ भी तो शंकरजी के औरस पुत्र के हाथों मरूँ, अन्य किसी के हाथों नहीं। और ब्रह्माजी 'तथास्तु' कह देते हैं। ऐसा वरदान माँगने के पीछे तारकासुर के मन में यह भावना काम कर रही थी कि शंकरजी तो निष्काम हैं, वे ऊर्ध्व समाधि में रहनेवाले हैं, वे तो विवाह करेंगे नहीं। विवाह वही करता है, जिसके मन में काम होता है। और यदि शंकरजी विवाह करेंगे नहीं, तो उनके पुत्र होगा कैसे, और उनके पुत्र नहीं हुआ तो मुझे मारेगा कौन? इसीलिए वह ब्रह्माजी से कहता है कि शंकरजी के औरस पुत्र के छोड़ और किसी के हाथों न मरूँ! उसे भय है कि कहीं शंकरजी संकल्प से कोई पुत्र न खड़ा कर दें, इसलिए वह पुत्र के साथ 'औरस' विशेषण लगाता है। 'औरस' पुत्र के लिए तो शंकरजी को विवाह करना ही पड़ेगा और तारकासुर को विश्वास था कि शंकरजी विवाह नहीं करेंगे। असुरों का गणित भी बड़ा विचित्र होता था, योजना बड़ी लम्बी होती थी। तो, यदि शंकरजी

निष्काम ही बने रहते, तो उनकी निष्कामता तारकासुर को अमर बना देती। और वह संसार के लिए बड़ा घातक होता। इसीलिए शंकरजी से भगवान् अनुरोध करते हैं कि वे विश्व के कल्याण के लिए काम को जीवन में स्वीकार कर पार्वतीजी से विवाह कर लें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि काम लोक-कल्याण की सृष्टि करता है और उसमें से अनियंत्रण का रोग निकाल दिया जाता है, तो वह बड़ी आवश्यक वस्तु है। भले ही गोस्वामीजी यह मानते हैं कि—

जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ न रहि सकै रवि रजनी इक ठाम।।

——राम और काम एक साथ नहीं रह सकते, तथापि पुष्पवाटिका में वे राम और काम को एक साथ लाते हैं। भगवान् राम ने लक्ष्मणजी से कहा——कामदेव वाद्य बजाता हुआ आक्रमण के लिए आ रहा है। वे लक्ष्मणजी से ऐसा क्यों कहते हैं? ——यह प्रदर्शित करने के लिए कि काम की भूमिका में भी लक्ष्मण अपने कर्तव्य का निर्वाह किस प्रकार करते हैं। प्रभु का तात्पर्य यह है कि लक्ष्मण सदैव उनके साथ रहे हैं और हर प्रकार की परिस्थिति का सामना उन्होंने लक्ष्मण के साथ रहकर सफलतापूर्वक किया है। यहाँ भी जब काम प्रभु पर आक्रमण कर रहा है, तो

लक्ष्मण साथ हैं। लक्ष्मणजी साक्षात् वैराग्य है। काम के आक्रमण के समय वैराग्य की भूमिका क्या होगी ?

यदि लक्ष्मणजी सही अर्थों में धर्म के तत्त्व को न जानते होते, तो कह देते कि काम आपको नहीं हरा सकता। पर उन्होंने संकेत से ठीक उल्टी बात कह दी। भगवान् राम के माथे पर मोरपख लगाकर उन्होंने मानो पराजय-पत्र ही लिख दिया! उनका तात्पर्य यह था कि महाराज, काम अकेले तो आपको जीत सकता नहीं, लेकिन जब वह भक्तिदेवी के नूपुरों का आश्रय लेकर आ रहा है, तो हार स्वीकार कर लेने में ही शोभा है। काम को गौरव प्रदान कीजिए, उसे पराजित करने के संकल्प की बात छोड़ दीजिए। योग में निष्कामता का आग्रह भले ही रहे, पर भक्ति में ऐसा आग्रह नहीं है।

काम दो व्यक्तियों पर आक्रमण करता है--एक तो भगवान् शिव पर और दूसरे,भगवान् राम पर। जब वह शिव पर आक्रमण करता है, तो वे उसे जला देते हैं और जब वह भगवान् राम पर आक्रमण करता है, तो वे उसे स्वीकार कर लेते हैं। जब वह शिवजी पर आक्रमण करने आया, तो पार्वतीजी से रहित होकर आया। जब भगवान् राम पर आक्रमण करने आया,तो सीताजी के चरणों का आश्रय लेकर आया। यदि काम श्रद्धा का आश्रय लेकर आता, तो शंकरजी भी उसे उसी प्रकार स्वीकार कर लेते, जिस प्रकार भक्ति

का आश्रय लेकर आने पर उसे भगवान् राम ने स्वीकार कर लिया। संसार के साथ काम का सम्बन्ध अग्राह्य है, पर भक्ति के साथ वह आये, तो आपत्ति नहीं। जैसे माँ अपने बालक को सिखाती है कि किसी के घर में जाना, तो कुछ माँगना मत; किसी चीज को देखकर ललचाना मत। इसका मतलब यह नहीं कि माँ अपने बच्चे को केवल निष्कामता की शिक्षा देती है; वह उससे यह भी कहती है कि कोई जरूरत हो तो घर में माँगना। तात्पर्य यह कि माँ अपने बालक को भले ही संसार के लोगों के सन्दर्भ में निष्काम देखना चाहती है, पर अपने सन्दर्भ में बालक का सकाम रहना ही उसे अभीष्ट है। इसी प्रकार पुष्पवाटिका के प्रसंग में, जहाँ काम भक्ति का आश्रय लेकर आता है, लक्ष्मणजी काम को गौरव प्रदान करते हैं, उसका विरोध नहीं करते। वे मौन रहकर भगवान् राम को मानो संकेत देते हैं कि प्रभो, अन्य युद्ध में तो मैं आपका सहायक बन सकता हूँ, पर इस युद्ध में आप मुझे मौन ही रहने दीजिए! और सच भी तो है, जहाँ तक भक्ति और ब्रह्म के सम्बन्ध की बात है, वहाँ वैराग्य की सत्ता नहीं आ करती।

वैराग्य क्या है? 'रामचरितमानस' में कहा गया है —— "बिरति चर्म संतोष कृपाना" (६।७९।७) ——वैराग्य ढाल है। प्राचीन काल के योद्धाओं का चित्र

आपने देखा होगा । वे लडते समय अपने एक हाथ में तलवार ले आक्रमण करते थे और दूसरे में ढाल ले अपना बचाव । तो भगवान् राम की दृष्टि में वैराग्य ढाल है । ढाल का काम है रक्षा करना । ढाल स्वयं में अत्यन्त शुष्क होती है, गैण्डे की खाल से बनती है, उसमें रक्त का लेश नहीं होता । तो क्या जो व्यक्ति गैण्डे की खाल से बनी उस ढाल का धारण करता है, वह रक्त का विरोधी है, शुष्कता का प्रेमी है ? नहीं, ऐसा तो नहीं, बल्कि शरीर में अपने रक्त को बचाने के लिए इस वि-रक्त ढाल को आगे कर दिया जाता है, अर्थात् विरक्तता की आवश्यकता अनुरागरूप रक्त को बचाने के लिए है । वस्तुतः वैराग्य बाह्य वस्तु है और अनुराग आन्तरिक । वैराग्य के माध्यम से शुष्कता का प्रचार नहीं अपितु अनुराग की रक्षा है । और लक्ष्मणजी वैराग्यरूप होने के कारण यह भूमिका सम्पन्न करते हैं । यह काम के सन्दर्भ में उनकी भूमिका है ।

धनुषयज्ञ के मण्डप में क्रोध के सन्दर्भ में उनकी भूमिका के दर्शन होते हैं । वहाँ पर उन्होंने क्रोध किया । वैसे तो लक्ष्मणजी आदि से लेकर अन्त तक इतनी बार क्रोध करते हैं कि लगता है वे बड़े क्रोधी हैं । इसी को दृष्टि में रखते हुए गोस्वामीजी ने लक्ष्मणजी की वन्दना में एक विरोधाभास रख दिया । वन्दना प्रारम्भ करते हुए उन्होंने पहला गुण लिखा—

बन्दौं लछिमन पद जल जाता, सीतल. . .(१।१६।५)
—'मैं लक्ष्मणजी के चरणकमलों की वन्दना करता हूँ, जो शीतल हैं।' अब, यदि भरतजी के लिए शीतल शब्द का व्यवहार करते, तो कोई सार्थकता थी, क्योंकि वे बड़े शीतल हैं। भगवान् राम भी शीतलता की मूर्ति हैं। पर लक्ष्मणजी और शीतलता—यह तो विरोधाभास है। उनमें शीतलता कहीं ढूँढ़े नहीं मिलती। जहाँ देखें, वहाँ उनके जीवन में क्रोध ही क्रोध। तब गोस्वामीजी का तात्पर्य क्या है? वे क्यों उनकी वन्दना में सबसे पहले 'शीतल' शब्द का प्रयोग करते हैं? कारण यह है कि ऊपर से देखने में तो लक्ष्मणजी अत्यन्त क्रोधी ही लगते हैं पर यदि अन्तरंग में पैठकर देखा जाय, तो उनमें शीतलता की अनुभूति होगी। लक्ष्मणजी को इस बात का प्रमाण-पत्र अनेक लोगों से मिला।

जब गाँव की स्त्रियों ने सीताजी से पूछा कि ये दोनों कुमार तुम्हारे कौन हैं, तो उन्होंने पहले लक्ष्मणजी का परिचय देते हुए कहा—

सहज सुभाय सुभग तन गोरे।
नामु लखनु लघु देवर मोरे।। २।११६।५

—'ये जो गोरे वर्ण के हैं, वे मेरे छोटे देवर हैं, लक्ष्मण इनका नाम है और वे स्वभाव के बड़े सीधे हैं!' जब अत्यन्त क्रोधी को सीधा होने का प्रमाणपत्र सीताजी देती हैं तो ऐसा लगता है कि वे पक्षपात

कर रही हैं। अपने बेटे को तो सभी अच्छा होने का प्रमाणपत्र देते हैं। तो क्या सीताजी सचमुच पक्षपात कर रही हैं ? नहीं, क्योंकि परशुराम जो लक्ष्मण के परम विरोधी और आलोचक हैं, वे भी जाते जाते लक्ष्मणजी को प्रमाणपत्र दे जाते हैं --

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता।
छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ।। १।२८४।६

-- वे उन्हें 'क्षमामन्दिर' की उपाधि देते जाते हैं।

सिद्धान्त की दृष्टि से भी यदि विचार किया जाय, तो लक्ष्मणजी को क्रोध सचमुच में नहीं आ सकता। उनमें जो क्रोध दिखायी देता है, वह फिर क्या है ? वह बनावटी है। थोड़ा विचार कर देखें कि क्रोध आता कैसे है। 'गीता' में (२।६२) हम पढ़ते हैं--

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।

-- अर्थात्, यदि व्यक्ति विषय का चिन्तन करे, तो उसके प्रति आसक्ति होती है। आसक्ति से उसे पाने की कामना जन्म लेती है और कामना से क्रोध उत्पन्न होता है। यह क्रोध आने की एक प्रक्रिया है। अब आप सोचिए लक्ष्मणजी किसका चिन्तन करते हैं ? 'रामचरितमानस' में लिखा हुआ है कि लक्ष्मणजी प्रतिक्षण एकमात्र श्री राम के चरणों का चिन्तन करते हैं। जब हनुमानजी लंका से लौटने लगे, तो

माँ जानकी से पूछा— कोई सन्देश ले जाना है ? माँ ने कहा--सबसे पहले लक्ष्मण के चरणों में मेरे प्रणाम कहना--

अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना ।
दीन बंधु प्रनतारति हरना ।। ५।३०।३

यह सुनकर हनुमानजी चौंक पड़े । यह तो समझ में आता है कि माँ अपने पुत्र को आशीर्वाद दे, पर माँ का अपने पुत्र को प्रणाम करना समझ से परे की बात। है । सीताजी हनुमान के असमंजस को ताड़ लेती है । वे संकेत करती हैं कि बड़े का छोटे को प्रणाम करना उचित तो नहीं प्रतीत होता, पर साधना और भक्ति के क्षेत्र में सम्बन्धों से श्रेष्ठता नहीं सिद्ध होती; वहाँ पर तो श्रेष्ठता की एक ही कसौटी है और वह है--

पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें ।
सब मानिअहिं राम के नातें ।। २।७३।७

--जगत् में जहाँ तक पूजनीय और परम प्रिय लोग हैं, वे सब रामजी के नाते से ही पूजनीय और परम प्रिय मानने योग्य हैं । सीताजी का तर्क यह था कि जिस समय प्रभु वन के लिए अयोध्या से निकले, उन्होंने मुझे और लक्ष्मण दोनों को साथ में आने से मना कया । पर हम दोनों ने आग्रह किया कि नहीं, हम भी आपके साथ चलेंगे । अन्ततः हम दोनों के पैर उनके साथ चल तो पड़े, पर मेरे पैर तो गलत दिशा में मुड़ गये और लक्ष्मण के चरण आज भी ठीक ठीक श्री

राम के साथ चल रहे हैं। में तो श्री राम के पीछे थी और मेरे पीछे थे लक्ष्मण, पर मेरा ध्यान इधर उधर चला गया, किन्तु लक्ष्मण का ध्यान श्री राम क चरणों को छोड़ कहीं नहीं गया। प्रभु ने वन साथ चलने से मना करते हुए मुझसे कहा था कि वन में तुम्हें कष्ट होगा, पर मंनें उनसे विनती की थी कि नहीं, आप मुझ साथ ले चलिए, मैं प्रतिक्षण आपके चरणों पर दृष्टि रखूँगी, उससे मेरा सारा कष्ट दूर हो जायगा — "छिनु छिनु चरन सरोज निहारी" (२/६६।१)। पर मैं अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह न कर सकी, मेरी दृष्टि प्रभु के चरणो को छोड़ स्वर्णमृग की ओर चली गयी, इस लिए मेरा पथ बदल गया। जो चरण प्रभु के साथ रहते थे, वे लका की ओर आ गये। पर धन्य है लक्ष्मण, जिसने पूरी तरह व्रत का निर्वाह किया, जिसकी दृष्टि प्रभु के चरणों को छोड़ और कहीं नहीं गयी! ऐसे लक्ष्मण से बढ़कर और किसके चरण वन्दनीय हो सकते है?

और सचमुच, श्री लक्ष्मण के जीवन में प्रतिपल श्री राम का ही चिन्तन है, निरन्तर राम का ही स्मरण है। उनके नेत्रों मे निद्रा के लिए भी स्थान नहीं है। हम लोग चाहे जितनी भक्ति करें, चाहे जितना चिन्तन में डूबे रहें, पर रात्रि में तो नींद आ ही जायगी। किन्तु श्री लक्ष्मण हैं, जो नेत्रों में श्री राम को छोड़कर निद्रा को भी स्थान नहीं देते। ऐसे

लक्ष्मण के मन में भला कौनसी कामना आ सकती हैं ? सीताजी मानती हैं कि एक बार मझमें कामना हो सकती है, पर लक्ष्मण के मन में किसी कामना का प्रवेश नहीं हो सकता । ऐसे निष्काम लक्ष्मण के मन में क्रोध का जन्म कहाँ से हो गया ? क्रोध तो काम कें साथ चला करता है । और जब काम के अभाव में क्रोध दिखे, तो मानना पड़ेगा कि क्रोध केवल बाहरी है, अन्तरंग में नहीं है । लक्ष्मणजी में दिखनेवाला क्रोध केवल ऊपरी है, रंगमंच पर अभिनय कर रहे अभिनेता के क्रोध के समान है। अभिनेता क्रोध का अभिनय करता है, उसका वह क्रोध भी आनन्द की वृद्धि ही करता है । वैसे ही लक्ष्मणजी का क्रोध भी वस्तुत: ताप का हेतु न होकर लीलारस की सम्पुष्टि करता है । तात्पर्य यह कि भगवान् राम की भूमिका में सहायता के लिए क्रोध की भी अपेक्षा है ।

और भी अन्तरंग में पैठें, तो एक विलक्षण तात्पर्य सामने आता है । जनक के धनषयज्ञ में दो क्रोधी आये--एक लक्ष्मण और दूसरे परशुराम । प्रश्न है कि क्रोध करना चाहिए या नहीं ? उत्तर है--परशराम की तरह क्रोध नहीं करना चाहिए, लक्ष्मण की तरह करना चाहिए । इसका क्या मतलब ? यह कि क्रोध दो तरह का होता है । वैसे जितने भी विकार हैं, वे सभी दो तरह के होते हैं । काम, क्रोध और लोभ की प्रकृति यह है कि क्रोध तो भूतवादी है, काम वर्तमानवादी

और लोभ भविष्यवादी। क्रोध जब आएगा, तब बीती बात पर आएगा कि ऐसा क्यों हुआ! काम जब आएगा, तो यही कहेगा कि वर्तमान में जो सौन्दर्य दिखायी दे रहा है, वह श्रेष्ठ है, अतः उसी का आनन्द लो, सुख लो। और लोभ जब आएगा, तो भविष्य की ओर देखने के लिए हमें बाध्य करेगा कि बुढ़ापे में क्या होगा, आगे क्या होगा? इस प्रकार क्रोध अतीत की ओर देखता है, काम वर्तमान की ओर और लोभ भविष्य की ओर। परिणाम क्या होता है? तीनों काल नष्ट हो जाते हैं। पर यदि इनकी दिशाओं को मोड़ दिया जाय, तो एक विलक्षण बात दिखायी देती है। यदि क्रोध को भूतवादी के बदले भविष्यवादी बना दिया जाय, तो उसका स्वभाव बदल जायगा। भूतवादी क्रोध अनर्थ करेगा, पर भविष्यवादी क्रोध उन्नति का, कल्याण का पथ प्रशस्त करेगा। बीती बात पर क्रोध करके अपने को जलाना व्यर्थ है, पर भविष्य की उन्नति के लिए यदि क्रोध किया जाय, तो ऐसा क्रोध सार्थक होगा। परशुराम क्रोध करते हैं कि धनुष क्यों टूट गया और लक्ष्मणजी क्रोध करते हैं, जिससे श्री राम उठकर, धनुष तोड़कर लोक-कल्याण करें, जनक की समस्या का समाधान करें। ये क्रोध के दो रूप हैं, जिनमें हमें टकराहट दिखायी देती है।

गोस्वामीजी और भी अन्तरंग सूत्र देते हैं।

वे लक्ष्मणजी को एक ओर तो वैराग्य बताते हैं और दूसरी ओर काम भी। पढ़नेवाले आश्चर्य में पड़ जाते हैं। जब चारों भाइयों का विवाह हुआ, तो गोस्वामीजी लिखते हैं (१।३२५)--

मुदित अवधपति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाए महिपाल मनि क्रियन्ह सहित फल चारि।।

--सब पुत्रों को बहुओं सहित देखकर अवधनरेश दशरथजी ऐसे आनन्दित हैं, मानो वे राजाओं के शिरोमणि क्रियाओं सहित चारों फल (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) पा गये हों। अब यदि चारों भाइयों को चार फल के रूप में देखें, तो श्री राम मोक्ष हैं और श्री भरत धर्म, लक्ष्मण काम हैं और शत्रुघ्न अर्थ। अब इनमें दो दो की जोड़ी हो गयी--श्री लक्ष्मण और भगवान् राम एक साथ रहते हैं तथा श्री भरत और श्री शत्रुघ्न एक साथ। अर्थात् समाज की व्यवस्था के लिए धर्म और अर्थ की एक जोड़ी बनी तथा मोक्ष और काम की दूसरी। अर्थ को चाहिए कि वह धर्म के पीछे चले। इसीलिए शत्रुघ्न भरत के पीछे चलते हैं। और काम को चाहिए कि वह मोक्ष के पीछे चले, इसीलिए लक्ष्मण श्री राम के पीछे चलते हैं। फिर दूसरी ओर गोस्वामीजी मेघनाद को भी काम की संज्ञा देते हैं, वे 'विनयपत्रिका' में लिखते हैं--'मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहँकार, पाकारिजित काम

विश्रामहारी' (५८।४)। यह कैसा विरोधाभास है कि लक्ष्मणजी भी काम हैं और मेघनाद भी! क्या तात्पर्य है? गोस्वामीजी का अभिप्राय यह है कि काम भी दो प्रकार का होता है---एक मोक्षानुगामी और दूसरा मोहानुगामी। लक्ष्मणजी मोक्षानुगामी काम हैं और रावण का बेटा मेघनाद मोहानुगामी काम है। काम के इन दोनों रूपों में संघर्ष होता है। अब मेघनाद को कौन मारेगा? मेघनाद नल, नील आदि सबको युद्ध में पछाड़ देता है, पर हनुमानजी के ललकारने पर भी उनके सामने नहीं जाता---

बार बार पचार हनुमाना।
निकट न आव मरमु सो जाना॥ ६।५०।४

वह समझता है कि इनके सामने मेरा जाना ठीक नहीं होगा। इसका तात्त्विक अर्थ यह है कि मेघनाद है काम और हनुमानजी हैं ब्रह्मचर्य की मूर्ति काम हमेशा ब्रह्मचर्य से डरता रहता है। प्रभु चाहते तो वे हनुमानजी से मेघनाद का वध करा दे सकते थे, पर उनका मनोभाव यह था कि यदि ब्रह्मचारी ने काम को जीत लिया, तो उसमें क्या चमत्कार है! चमत्कार तो तब होगा, जब एक गृहस्थ काम को जीत ले। इसलिए प्रभु लक्ष्मणजी को मेघनाद को जीतने की भूमिका सौंपते हैं।

तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय, तो काम अद्वैत क [illegible] । जब वह आधिभौतिक जगत् में प्रका-

शित होता है, तब वासना का रूप धारण करता है और जब आध्यात्मिक जगत् में उसकी अभिव्यक्ति होती है, तब वह ब्रह्म और जीव के मिलन के रूप में प्रकट होता है। चाहे वासना के माध्यम से दो व्यक्ति मिलते हों, चाहे अध्यात्म के माध्यम से ब्रह्म और जीव मिलते हों--दोनों प्रकार के मिलन के पीछे अद्वैत की ही प्रेरणा काम करती है। लक्ष्मणजी के रूप में अभिव्यक्त होनेवाला काम अध्यात्म के अद्वैत की प्रेरणा देता है, वह श्री राम के पीछे पीछे चलता है और सीताजी से उनके मिलन का हेतु बनता है।

इस प्रकार चाहे काम की भूमिका हो या क्रोध की, सभी अवस्थाओं में लक्ष्मणजी प्रभु के साथ हैं। लक्ष्मणजी का काम भी अपने लिए नहीं प्रभु के लिए है; उनका क्रोध भी अपने लिए नहीं, प्रभु के लिए है। न तो उनका अपना कोई अहंकार है, न अपने विषय में उनकी कोई मान्यता। उनका सब कुछ प्रभु के लिए है। बाल्यावस्था का प्रसंग है। जब चारों भाई सरयूजी के किनारे गेंद खेलने को गये, तो भगवान् राम ने दो दल बनाने की बात कही। तुरन्त लक्ष्मणजी प्रभु के पास आकर कहते हैं कि मैं तो आपकी ही ओर से खेलूँगा। प्रभु ने मुसकराकर कहा--ठीक है, तुम मेरी ओर से खेलना चाहते हो, तो वही सही। फिर उन्होंने श्री भरत

की ओर देखा। भरतजी प्रभु का मनोभाव भाँप लेते हैं, कहते हैं——प्रभो, यदि आपकी आज्ञा हो, तो विरोधी दल का नायक बन जाऊँ ! लोगों को आश्चर्य होता है कि लक्ष्मण और भरत कितने अलग अलग विचार के हैं। ध्यान रखिए, लक्ष्मणजी अपना भाव कभी छिपा नहीं पाते, और भरतजी इतना छिपाते हैं कि वह कभी प्रकट नहीं हो पाता। दोनों ही महान् हैं। मैं तो कहूँगा कि श्री भरत का चरित्र समुद्र की तरह है, जिसकी गहराई समझना, कठिन है और श्री लक्ष्मण का चरित्र आकाश की तरह है, जिसमें सब साफ साफ दिखायी देता है—— सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र सब साफ साफ दिखते हैं, वहाँ किसी के छिपने का प्रश्न ही नहीं है। और जब खेल होता है, तो श्री भरत जीत जाते हैं। (गीतावली, बा० का० ४५।७)——

एक कहत भइ हार रामजूकी
एक कहत भइया भरत जये।

——कोई कहते हैं राम की हार हुई और कोई कहते हैं भैया भरत जीते हैं। जब दूसरे दिन फिर से खेल शुरू हुआ, तो भगवान् राम ने लक्ष्मणजी से पूछा——आज किसकी ओर से खेलोगे, तो उन्होंने उत्तर दिया—— आपकी ओर से। लक्ष्मणजी का अभिप्राय यह था कि प्रभो, मैं जीतने के लिए नहीं खेलता, मैं तो आपके साथ रहने के लिए खेलता हूँ। इसका अर्थ यह है कि

जिसे हारने का दुःख होता है, उसे ही जीत की खुशी होती है। पर लक्ष्मण तो इतने अहंकारशून्य हैं कि उनके सामने प्रश्न हार-जीत का नहीं है, वे तो बस प्रभु के साथ रहना चाहते हैं। इसीलिए वे श्री राम के साथ नित्य खेलते हैं और नित्य हारते हैं, क्योंकि भगवान् राम श्री भरत को जिताने के लिए स्वयं हार जाते हैं। पर लक्ष्मणजी को हार की कोई शिकायत-शिकवा नहीं। किन्तु चित्रकूट में जब वे सुनते हैं कि भरत सेना लेकर आ रहे हैं, तब वे उलाहना की दृष्टि से प्रभु की ओर देखते हैं, मानो कहते हैं--प्रभु, मुझे हारने में कोई आपत्ति नहीं थी, पर आपने हार-हारकर भरत का मस्तिष्क खराब कर दिया, वह सोचने लग गया कि वह सचमुच आपको हरा सकता है! यह आपकी ही छूट का फल है कि भरत इतना दुस्साहसी हो गया है! इस प्रकार लक्ष्मणजी भरत के प्रति रोष तो प्रकट करते हैं, पर उनके इस रोष में भी अपना कोई अहं नहीं। वे प्रभु के लिए रोष करते हैं, इसीलिए दूसरे ही क्षण उनका रोष हवा भी हो जाता है। अहंकारी व्यक्ति कोई बात पकड़ ले तो छोड नहीं पाता। कुछ क्षण पहले लक्ष्मण कह उठे थे--

> जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।
> लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥

तैसेहिं भरतहि सेन समेता।
सानुज निदरि निपातउँ खेता॥ २।२२९।६-७

—'जैसे सिंह हाथियों के झुण्ड को कुचल डालता है और बाज जैसे लवे को लपेट में ले लेता है, वैसे ही भरत को सेना समेत और छोटे भाई सहित तिरस्कार करके मैदान में पछाड़ूँगा।' पर कुछ क्षण पश्चात् जब उन्हें भरत के प्रति श्री राम के प्रेम का ज्ञान होता है और जब वे भरत के दीन बचनों को सुनते हैं, तो तुरत माथे को जमीन में नवाकर प्रभु से कह उठते हैं—

कहत सप्रेम नाइ महि माथा।
भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥ २।२३९।७

—'प्रभो, भरत प्रणाम कर रहे हैं!' लक्ष्मण इतने अहंकारशून्य हैं कि उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं। रामायण में अपने को इतना मिटा देनेवाला पात्र और कोई नहीं। अंक की दृष्टि से सोचा जाय, तो श्री राम हैं एक की संख्या। जैसे संख्या का मूल है एक, उसी प्रकार सृष्टि के मूल हैं श्री राम। श्री भरत हैं नौ की संख्या। अंकों में सबसे बड़ा ९ होता है। इसी प्रकार रामायण में भरत से बढ़कर और किसी का चरित्र नहीं। और लक्ष्मणजी क्या हैं? वे एक से लेकर नौ तक कहीं भी नहीं हैं—वे तो हैं शून्य। शून्य ऐसा है, जो अपना तो कोई मूल्य नहीं रखता, पर जिसके साथ जुड़ता है, उसका मूल्य दसगुना बढ़ा

देता है। अपने आपको शून्य बनाकर दूसरे के मूल्य को बढ़ा देना कोई साधारण बात नहीं है। ऐसी असाधारण भूमिका लक्ष्मणजी की है कि वे अपने गुणों को दबाकर प्रभु के गुणों को और भी चमकाते हैं। इसे यों समझा जाय :--

भगवान् राम के अनन्त गुणों में तीन गुण मुख्य हैं--"रूप सील बल" (१।२१६) – रूप, शील और बल। वैसे तो उनके गुणों का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप तीन नगरों में प्रकट हुआ—जनकपुर में रूप, अयोध्या में शील और लंका में बल, पर दूसरी ओर जनकपुर के तीन प्रसंगों में भी उनके ये तीन गुण प्रकट हुए-- पुष्पवाटिका में रूप, धनुषयज्ञ में बल और परशुराम के संवाद में शील। और इन तीनों प्रसंगों में लक्ष्मणजी ऐसी भूमिका चुनते हैं, जिससे श्री राम को दोहरा यश मिल जाता है। जनकपुरवासी तुलना करते हुए कहते हैं -- दोनों भाई बड़े अच्छे हैं, पर बड़ा कितना गम्भीर है! अब उन्हें क्या पता कि सारी गम्भीरता बड़े को इसलिए मिल रही है कि छोटे ने कलंक लेने के लिए अपने को प्रस्तुत कर लिया है। अगर वह अपने को वैसे रूप में प्रस्तुत न करे, तो श्री राम की भूमिका अधूरी रह जायगी। इसीलिए लक्ष्मणजी अहंकाररहित और निष्कमा होते हुए भी क्रोध को स्वीकार करते हैं, जिससे भविष्य सुधरे। वे ताप प्रदान करते हैं उष्णता देते

हैं, जिससे आगे बढ़ने की प्रेरणा मिले। यदि शरीर ताप न हो, तो व्यक्ति ठण्डा पड़ जाय और उसका उठना-बैठना ही मुश्किल हो जाय। उसी प्रकार यदि समाज में प्रेरणा न हो, शौर्य न हो, गति न हो, तो व्यक्ति कैसे आगे बढ़ेगा ? धनुषयज्ञ में सभी सत्रस्त हैं। लक्ष्मणजी अपने ऊपर क्रोध का कलंक लेकर श्री राम को धनुष तोड़ने के लिए प्रेरित करत हैं और समाज में व्याप्त संत्रास दूर करते हैं। इसीलिए हमने कहा कि लक्ष्मणजी का क्रोध भविष्यवादी है, जो लोकहित का साधन है। पर जो दूसरे क्रोधी सज्जन आते हैं ––परशुरामजी, उनका क्रोध भूतवादी है। वे बार बार पूछते हैं कि धनुष किसने तोड़ा, कैसे टूटा ? उत्तर लक्ष्मणजी देते हैं। एक क्रोधी दूसरे को उत्तर देता है। लक्ष्मणजी परशुराम से कहते हैं–– महाराज, यदि आपको धनुष के प्रति इतना प्रम था और आप चाहते थे कि वह न टूटे, तो आपको तब आना चाहिए था, जब जनकजी ने प्रतिज्ञा की थी कि जो धनुष तोड़ेगा, उसे मैं अपनी कन्या दूँगा। पर उस समय तो आप आये नहीं, और अब जब धनुष टूट गया है, तब आकर क्रोध से काँप रहे हैं ! जरा सोचिए, "टूट चाप नहि जुरिहि रिसाने" (१।२७७।२) ––आपके क्रोध करने से अब टूटा धनुष जुड़ तो नहीं जायगा। आप निरर्थक ही क्रोध कर रहे हैं। भूत-

वादी क्रोध ऐसा ही निरर्थक होता है। लक्ष्मणजी इसीलिए व्यंग्य करते हैं कि धनुष तो जुड़नेवाला है नहीं, आप क्रोध करके अपने को और तोड़ लेंगे। कहते हैं--

टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने।
बैठिअ होइहिं पाय पिराने ।। १/२७७२

--बैठ जाइए, अब धनुष तो टूट ही गया है, खड़े खड़े कहीं आपके पैर भी न टूट जायें। पैर टूटने से तो आप गतिशून्य हो जाएँगे। शान्त होइए। और यदि आपको लगता है कि धनुष का होना अत्यावश्यक है, तो--

जौं अति प्रिय तौ करिअ उपाई।
जोरिअ कोउ बड़ गुनी बोलाई ।।

--कोई गुणी कारीगर बुलवा लीजिए और धनुष जुड़वा लीजिए !

परशुरामजी का क्रोध निरर्थक है और लक्ष्मणजी का सार्थक। लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह है कि महाराज, आप धनुष को शंकरजी का मानकर कितनी बड़ी भूल कर रहे हैं। जब भगवान् शंकर ने धनुष जनकजी को दे दिया, तब फिर वह उनका कहाँ रहा ? अधिकांश लोगों के साथ यही मुश्किल है, वे देकर भी अपने को दी हुई वस्तु के साथ जोड़े रहते हैं। यह दुर्भाग्य की बात है। देने का अर्थ है ममता का त्याग, उसका विस्तार नहीं। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें आप उठाकर दे देते हैं और कुछ ऐसी,

जिन्हें उठाकर नहीं दे सकते। आप किसी को यदि मकान दे द, तो उसे उठाकर तो नहीं दे सकेंगे, मकान जहाँ का तहाँ ही बना रहेगा। तब फिर आपने किया क्या ? उस मकान के प्रति आपकी जो ममता थी. उसे आपने हटा लिया। कल तक उसे आप अपना मानते थे, आज कहने लगे कि वह मेरा नहीं है। तभी तो वह सच्चा दान होगा। और यदि देने के बाद भी यह ध्यान बना रहे कि मकान मेरा है, दान लेनेवाला भी मेरा है और आप यह आशा करते रहें कि दान लेनेवाला आपको हमेशा धन्यवाद देता रहे, तब तो यह ममता का विस्तार हो जायगा। लक्ष्मणजी का संकेत यह है कि महाराज, भगवान् शंकर ने तो धनुष देकर ममता का त्याग किया। ऐसा न होता, तो जनकजी की प्रतिज्ञा सुनकर उन्हें अधिक क्रोध आना चाहिए था कि भलेमानुस, मैंने क्या तुम्हें धनुष तुड़वाने के लिए दिया है! पर उन्हें तो क्रोध नहीं आया। उन्होंने धनुष जनकजी को देकर यह चिन्ता नहीं की कि जनक उसका कैसा उपयोग करते हैं। फिर, जनकजी ने भी यह प्रतिज्ञा करके कि जो धनुष तोड़ेगा, उसे अपनी कन्या दूंगा, धनुष के प्रति अपनी ममता के त्याग को ही प्रकट किया। जब शिवजी और राजा जनक धनुष के स्वामी होकर भी उसके प्रति अपनी ममता का त्याग करते हैं, तब आपका धनुष से ममत्व जोड़ना क्या शोभा देता है ?

आपको इस धनुष पर इतनी ममता क्यों है?--"एहि धनु पर ममता केहि हेतू" (१।२७०।८)। ऐसा लगता है आपको जो दुःख हो रहा है, वह धनुष टूटने के कारण नहीं है, बल्कि आपकी ममता के कारण है। अतः आप चिकित्सा ममता की कीजिए। ममता छूटने से आपका रोग दूर होगा, धनुष तोडनेवाले की शोध-खोज से नहीं!

इस प्रकार लक्ष्मणजी यह बताते हैं कि निरर्थक क्रोध की भूमिका क्या होती है, और अपने सार्थक क्रोध के द्वारा वे श्री राम को धनुष तोड़ने की प्रेरणा देते हैं। पहले क्रोध से लक्ष्मणजी की भौंहें टेढ़ी हो गयी थीं और ओठ फड़कने लगे थे, पर जब श्री राम ने धनुष तोड़ दिया और सीताजी ने जयमाला उनके गले में डाल दी, तो सबसे अधिक आनन्द लक्ष्मणजी को ही हुआ। गोस्वामीजी लिखते हैं--

रामहि लखनु बिलोकत कैसें।
ससिहि चकोर किसोरकु जैसें॥ १।२६२।७

--'लक्ष्मणजी श्री राम की ओर इस प्रकार देख रहे हैं, जैसे चकोर का बच्चा चन्द्रमा को देख रहा हो।' गोस्वामीजी यहाँ 'चकोर' नहीं कहते, 'चकोर का बच्चा' कहते हैं। दूसरा कवि उपमा देता तो कहता कि जैसे चकोर चन्द्रमा को देखता है। पर गोस्वामीजी का आशय बड़ा सूक्ष्म हुआ करता है। चकोर भी चन्द्रमा को देखता है, पर

उसका राग दो भागों में बँटा रहता है। दिन में वह चकोरी से प्रेम करता है और रात में चन्द्रमा को देखता है। पर चकोर के बच्चे के लिए तो एकमात्र चन्द्रमा ही है, क्योंकि उसके लिए कोई चकोरी नहीं होती। लक्ष्मणजी भी इसी चकोर-किशोर के समान हैं, वे श्री राम को छोड़ और कुछ नहीं जानते। परशुराम से वार्तालाप के प्रसंग में भगवान् राम ने एक बढ़िया बात कही। जब परशुरामजी ने श्री लक्ष्मण पर आक्षेप करते हुए कहा कि यह बालक बड़ा ढीठ है, तो श्री राम बचाव करते हुए बोले--

नाथ करहु बालक पर छोहू।
सूध दूधमुख करिअ न कोहू॥ १।२७६।१

--'आप बालक पर कृपा कीजिए। इस सीधे और दुधमुँहे बच्चे पर क्रोध न कीजिए।' भगवान् राम की बात सुनकर परशुराम को क्रोध आया--इस पन्द्रह बरस के लड़के को यह दुधमुँहा बच्चा कहता है! यही इसका साहित्य-ज्ञान है! और सचमुच श्री राम का लक्ष्मण को दुधमुँहा बच्चा कहना अटपटा ही तो लगता है। वे स्वयं श्री लक्ष्मण से मात्र एक दिन के ही तो बड़े हैं और लक्ष्मण दुधमुँहा बच्चा हो गये! पर भगवान् राम की परिभाषा आध्यात्मिक है। वैसे बच्चे को हम दुधमूँहा तब तक कहते हैं जब तक वह माँ के स्तनों का दूध छोड़ और किसी वस्तु का सेवन नहीं करता। जब वह अन्य वस्तुओं का भी सेवन

करने लगता है, तब वह दुधमूंहा नहीं रह जाता। उसी प्रकार हम संसार के व्यक्ति ईश्वर से भी दूध चाहते हैं तथा उसके साथ ही अन्य वस्तुओं से भी बल प्राप्त करते हैं। पर लक्ष्मण ऐसे बालक हैं, जो ईश्वर के वात्सल्य को छोड़ जीवन में कभी और कुछ नहीं चाहते। वे ईश्वर की शक्ति को छोड़ अन्य किसी शक्ति को नमन नहीं करते। उनकी ईश्वर के प्रति अनन्यता शत-प्रतिशत है। वे सच्चे अर्थों में जीवन भर दुधमूँहे बने रहे। दूसरे लोग भले ही अन्य देवताओं के बल में भरोसा करें, पर लक्ष्मणजी के लिए तो मात्र भगवान् राम का ही बल था। जैसे, भरतजी शंकरजी की भी पूजा करते हैं। इसकी भी अपनी सार्थकता है। जब श्री भरत चित्रकूट पहुँचे, तो भगवान् राम ने लक्ष्मणजी की ओर देखा। उनका संकेत था कि लक्ष्मण, बहुत बड़ा शंकर भक्त आ रहा है। इस पर लक्ष्मणजी कह उठते हैं——

जौं सहाय कर संकरु आई।
तौ मारउं रन राम दोहाई॥ २।२२९।८

——'यदि शंकरजी भी आकर उनकी सहायता करें, तो भी मुझे रामजी की सौगन्ध है, मैं उन्हें युद्ध में मार डालूंगा।' इसी प्रकार जब वे मेघनाद से लड़ने चले, तो उन्हें मालूम था कि मेघनाद भी बड़ा शंकर-भक्त है। पर वे कहना नहीं चूकते——

जौं सत संकर करहिं सहाई।
तदपि हतउँ रघुवीर दोहाई॥ ६।७४।१८

—'यदि सैकड़ों शंकर भी उसकी सहायता करें, तो भी श्री रघुवीर की दोहाई है,आज मैं उसे मार ही डालूंगा।' कहने का तात्पर्य यह कि लक्ष्मणजी को केवल श्री राम के बल का ही भरोसा है। उन्हें ईश्वर का वात्सल्य छोड़ और कुछ नहीं चाहिए। वे सही अर्थों में दुधमूंहा हैं। तो, श्री राम के गले में जयमाल है और आनन्द लक्ष्मणजी को हो रहा है। भगवान् राम तो धनुष तोड़ने के बाद भी, सीता से जयमाल पहनने के बाद भी निरपेक्ष दिखायी देते हैं। सुख यदि किसी को होता है, तो लक्ष्मणजी को। यही कारण है कि उपस्थित राजाओं में से कई लक्ष्मणजी को धनुष का तोड़नेवाला मान बैठते हैं। श्री राम के मुख को देखकर ऐसा नहीं लगता कि उन्होंने कोई बहुत बड़ा कार्य किया है। धनुष तोड़ने के पहले वे जैसा दिख रहे थ, वैसा ही धनुष तोड़ने के बाद भी दिखते हैं। उनकी आकृति में विजय-प्राप्ति का कोई लक्षण नहीं दिखायी देता। यदि कोई पहलवान कुश्ती जीत लेता है, तो उसका चेहरा ही उसकी विजय की घोषणा करता है। पर भगवान् राम तो जैसे के तैसे हैं। हाँ, लक्ष्मणजी के चेहरे पर हर्षोल्लास की आभा है और इसलिए कुछ राजागण उन्हें धनुष का भंजनकर्ता मान चिल्ला उठते हैं—

लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ।
धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ ॥ १।२६५।३

—'सीता को छीन लो और दोनों राजकुमारों को

पकड़कर बाँध लो।' यह सुनकर भी भगवान् राम वैसे ही शान्त हैं, जसे पहले थे। क्रोध तो लक्ष्मणजी करते हैं–

अरुन नयन भृकुटी कुटिल
चितवत नृपन्ह सकोप। १।२६७

––उनके नेत्र लाल हो जाते हैं, भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं और वे क्रोध से राजाओं की ओर देखने लगते हैं। वास्तव में क्रोध तो राम को करना चाहिए था, पर क्रोध करने की भूमिका लक्ष्मण निभाते हैं, मानो वे श्री राम से कहते हैं कि आप जयमाल डलवाने की अपनी भूमिका सम्पन्न कीजिए और मुझे क्रोध करने की भूमिका करने दीजिए। यदि वे चाहते तो धनुष पर बाण चढ़ाकर सब राजाओं के सिर काट डालते। प्रभु ने तो सुग्रीवजी से कहा ही था––

जग महुँ सखा निसाचर जेते।
लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते ।। ५।४३।७

––'हे सखे, जगत् में जितने भी राक्षस हैं, लक्ष्मण क्षणभर में उन सबको मार सकते हैं।' पर लक्ष्मणजी ने धनुषयज्ञ में धनुष नहीं चढ़ाया, केवल आँखें ही चढ़ायीं। वे समय की गुरुता को समझते हैं। वे सोचते हैं कि यदि मैं इस समय इन राजाओं का सिर काटूँ तब तो प्रभु का व्रत ही नष्ट हो जायगा। प्रभु का विवाह तो मिलानेवाला है, मिटाने-वाला नहीं। संसार में विवाह तो बहुत से लोग

करते हैं, पर उनका विवाह केवल अपने लिए होता है, उससे केवल पति-पत्नी का एक जोड़ा ही आपस में मिलित होता है। लेकिन भगवान् राम का विवाह ऐसा है, जिसमें पहले दूसरे बिछुड़े हुए जोड़े मिलते हैं, तब उनका जानकीजी से मिलन होता है। जनकपुर आने से पहले वे अहल्या का उद्धार करते हैं, अहल्या और गौतम को मिलाते हैं और तब उसके बाद स्वयं सीताजी से मिलते हैं। इसीलिए लक्ष्मणजी सोचते हैं कि यदि हजारों स्त्रियों को विधवा बनाकर प्रभु का विवाह हुआ, तब तो प्रभु का व्रत ही नष्ट हो जाएगा । इसलिए धनुष न चढ़ाकर वे नेत्र ही चढ़ाते हैं। और इतने में परशुराम आ जाते हैं। उन्हें सभी राजा साष्टांग प्रणाम करने लगते हैं। लक्ष्मणजी ने सोचा कि चलो काम बन गया । अब तो गणित सीधा है। परशुराम से सभी डरते हैं, इसलिए यदि उन्हें यहाँ से हराकर भेज दिया जाय तो सारा झगड़ा समाप्त हो जाएगा। परशुराम को पराजित करना माने हजारों व्यक्तियों के सिर की रक्षा करना। ऐसा विचार कर लक्ष्मणजी अपनी भूमिका निश्चित कर लेते हैं। वे क्रोध करने की भूमिका स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि वे देखते हैं कि यदि वे क्रोध न करें, तो हजारों राजाओं का सिर काटना पड़ेगा। इसलिए वे ऐसा भाषण देते हैं कि परशुराम क्रोध से काँपने लगते हैं। भगवान् राम

की भी भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं--"नयन तरेरे राम" (१।२७८)। यह देख लक्ष्मणजी खूब हँसे। बोले--प्रभु, मैं यही तो चाहता था कि आपकी भौंहें टेढ़ी हों, लोग यह समझें तो कि आपको क्रोध करना भी आता है! इसकी भी आवश्यकता है।

इस प्रकार लक्ष्मणजी ऐसी भूमिका प्रस्तुत करते हैं कि अन्त में परशुरामजी भगवान् राम के चरणों में स्तुति करते हुए नमन करते हैं–

जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात। १।२८४

--और वे प्रभु को प्रणाम कर चले जाते हैं। लोग भगवान् राम पर फूलों की वर्षा करते हैं। परशुराम तो चले गये, पर आलोचना के शूल लक्ष्मणजी पर बरस रहे थे--

थर थर काँपहि पुर नर नारी।
छोट कुमार खोट बड़ भारी।। १।२७७।२

जो स्वयं शूल लेकर भगवान् पर फूल की वर्षा करता है, उससे बढ़कर महान् कौन होगा?

●

साँप पकड़ने जाओ तो तुरन्त ही काट खायगा, परन्तु कोई मनुष्य यदि मन्त्र जानता हो, तो कई साँपों को अपने गले में लपेटकर खूब तमाशा दिखला सकता है। वैसे ही, वैराग्य और विवेक का मन्त्र सीखकर यदि कोई ससार में रहे तो संसार की माया में नहीं फँस सकता।

– श्रीरामकृष्ण

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) जाकी रही भावना जैसी

एक बार संगीताचार्य तानसेन ने एक भजन गाया—'जसुदा बार बार यों भाखै ।

है कोउ ब्रज में हितू हमारो, चलत गोपालहिं राखै ॥' इस पद का अर्थ अकबर को समझ में नहीं आया। उसने दरबारियों से इसका अर्थ पूछा। तब तानसेन ने कहा, "यशोदा बार बार कहती है--क्या व्रज में हमारा कोई ऐसा हितैषी है, जो गोपाल को मथुरा जाने से राक सके ?"

इस पर अबुल फैजल फंज बोले, "नहीं, नहीं ! आपको इसका अर्थ समझ में नहीं आया। 'बार बार' का अर्थ 'रोना' है। यानी यशोदा रो-रोकर कहती है . . . ।"

बीरबल बोले, "मेरे विचार से तो 'बार बार' का अर्थ 'द्वार द्वार' है ।"

रहीम कवि भी वहाँ उपस्थित थे। उन्हें यह अर्थ भी नहीं जँचा, बोले, "बार बार का अर्थ 'बाल बाल' यानी 'रोम रोम' है ।"

इतने में एक ज्योतिषी उठ खडा हुआ और बोला, "मेरी राय में तो इसमें से एक भी अर्थ ठीक नहीं है। वास्तव में'बार'का अर्थ 'वार' यानी दिन है, अर्थात् यशोदा प्रतिदिन कहती है . . . ।"

यह सुन बादशाह को आश्चर्य हुआ, बोला,

"एक ही शब्द 'बार बार' का सब लोग अलग अलग अर्थ कैसे बता रहे हैं !" तब रहीम कवि बोले "जहाँ-पनाह ! एक ही शब्द के अनेक अर्थ होना यह कवि का कौशल है और इसे 'श्लेष' कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति किसी शब्द का अर्थ अपनी अपनी परिस्थिति और चित्तवृत्ति के अनुसार लगाता है। मैं कवि हूँ और किसी काव्य का प्रभाव कवि के रोम रोम पर होता हैं, इसलिए मैंने उसका अर्थ 'रोम रोम' लगाया। तानसेन गायक हैं, उन्हें बार बार राग अलापना पड़ता है, इसलिए उन्होंने 'बार बार' अर्थ लगाया। फैजी शायर हैं और उन्हें करुण शायरी सुन आँसू बहाने का अभ्यास है, अतः उनके द्वारा 'रोना' अर्थ लगाना स्वाभाविक है। और बीरबल ठहरे ब्राह्मण। ब्राह्मण को घर घर घूमना पड़ता है. इसलिए उन्होंने 'द्वार द्वार' अर्थ लगाया। रहे ज्योतिषी, तो वे दिन, तिथि, नक्षत्रों आदि का ही विचार करते हैं और इसलिए उन्होंने उसका अर्थ 'दिन' लगाया।"

(२) श्रम का पुरस्कार

एक बहुरुपिये ने राजा भोज के दरबार में आकर राजा से पाँच रुपये की याचना की। राजा ने कहा कि वे कलाकार को पुरस्कार दे सकते हैं. दान नहीं। बहुरुपिये ने स्वाँग-प्रदर्शन के लिए तीन दिन की मोहलत माँगी।

अगले दिन राजधानी के बाहर टीले पर एक जटाजूटधारी तपस्वी समाधि-मुद्रा में शान्त बैठा दिखायी दिया। उत्सुकतावश चरवाहे वहाँ जुट गये। "महाराज, आप कहाँ से पधारे?" उनमें से एक ने प्रश्न किया। किन्तु महाराज के कानों में ये शब्द गये नहीं, वे मौन ही रहे। न तो उनके नेत्र खुले और न उनका शरीर रंचमात्र हिला।

"बाबा, क्या कुछ भिक्षा ग्रहण करोगे?" किन्तु इसका भी उन्हें उत्तर न मिला।

नगर लौटे चरवाहों से उस महान् तपस्वी का वर्णन सुनकर सभ्य नागरिकों, सेठों और दरबारियों की सवारियाँ नगर के बाहर की ओर दौड़ पड़ी। फल, फूल, मेवा, मिष्टान्न के अम्बार लग गये, किन्तु साधु ने आँखें न खोलीं।

दूसरे दिन प्रधान मंत्री ने रुपये और रत्नों की राशियाँ चरणों पर रखते हुए महात्मा से केवल एक बार नेत्र खोलकर कृतार्थ करने की प्रार्थना की, किन्तु इसका भी उस साधु पर कोई असर नहीं हुआ।

तीसरे दिन राजा भोज स्वयं वहाँ आ पहुँचे। लाखों अशर्फियाँ चरणों पर रख वे साधु से आशीर्वाद की प्रार्थना करते रहे, किन्तु तपस्वी मौन ही थे। चौथे दिन बहुरुपिये ने दरबार में उपस्थित हो अपने सफल स्वाँग के लिए पाँच रुपये पुरस्कार

की माँग की।

"मूर्ख! सारे राज्य का वैभव तेरे चरणों पर रखा गया था, तब तो तूने एक बार भी आँख खोलकर देखा नहीं था और अब मात्र पाँच रुपये की याचना कर रहा है!" राजा ने कहा।

"उस समय सारे वैभव तुच्छ थे, महाराज!" बहुरुपिये ने उत्तर दिया, "तब मुझे वेश की लाज रखनी थी, लेकिन अब पेट की आग अपने श्रम का पुरस्कार चाहती है।"

(३) लोभ पाप का मूल है

सम्राट् पाइरस के हृदय में पराक्रम का समुद्र हिलोरें ले रहा था। दिग्विजय की महत्त्वाकांक्षा लिये, सैन्य सजाकर वह इटली के अभियान हेतु चला, तभी उसके विद्वान् मित्र साइनेस ने पूछा, "सम्राट्, यह यात्रा आप किसलिए कर रहे हैं?"

"रोम-विजय के लिए," पाइरस की भुजाएँ फड़क उठीं, "मैं शूरों की इस नगरी को पददलित करूँगा।" साइनेस के चेहरे पर मन्द हँसी बिखर गयी, "इस विजय के बाद आप क्या करेंगे?"

"उसके बाद मैं समस्त इटली को अपने अश्वारोहियों के बल रौंद डालूंगा," पाइरस ने हाथ का खड्ग हवा में हिलाया।

"और उसके बाद?"

"फिर मैं मेसीडोमिया, अफ्रीका, ग्रीस और

सीरिया को जीतूंगा !"

"अपनी इच्छानुसार समस्त देशों को जीतने के बाद आप क्या करेंगे, सम्राट् ?"

"तब ... तब मैं शान्तिपूर्वक प्रजा-पालन करूंगा। जनता सुख-समृद्धि से रहेगी,"पाइरस ने उत्तर दिया।

"सुख-शान्तिपूर्वक तो आप आज भी रह सकते हैं," साइनेस गम्भीर स्वर में बोला, "यदि आपका अन्तिम ध्येय यही है, तो व्यर्थ ही रक्तपात क्यों करते हैं आप ? यदि लोभ का त्याग करेंगे, तो निश्चय ही सुख का अनुभव करेंगे और तब आपको किसी देश को जीतने की लालसा नहीं रहेगी।"

(४) सुखी जीवन का मूलमंत्र

जापान के सम्राट् यामातो का एक राज्यमंत्री था—ओ-चो-सान। उसका परिवार सौहार्द्रता के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। यद्यपि उसके परिवार में लगभग एक हजार सदस्य थे, पर उसके बीच एकता का अटूट सम्बन्ध स्थापित था। सभी सदस्य साथ साथ रहते और साथ साथ ही खाना खाते थे। फिर उनमें द्वेष-कलह की बात ही क्या ?

ओ-चो-सान के परिवार की सौहार्द्रता की बात यामातो के कानों तक पहुँची। सत्यता की जाँच करने के लिए एक दिन वे स्वयं उस वृद्ध मंत्री के घर तक आ पहुँचे।

स्वागत-सत्कार और शिष्टाचार की साधारण

रस्में समाप्त हो जाने पर उन्होंने पूछा, "महाशय ! मैंने आपके परिवार की एकता और मिलनसारिता की कई कहानियाँ सुनी हैं। क्या आप बतलाएँगे कि एक हजार से भी अधिक व्यक्तियोंवाले आपके परिवार में यह सौहार्द्रता और स्नेह-सम्बन्ध किस तरह बना हुआ है ?"

ओ-चो-सान वृद्धावस्था के कारण अधिक देर तक बातें नहीं कर सकता था। अतः उसने अपने पौत्र को संकेत से कलम-दावात और कागज लाने के लिए कहा। उन चीजों के आ जाने पर उसने अपने काँपते हाथों से कोई सौ शब्द लिखकर वह कागज सम्राट् यामातो की ओर बढ़ा दिया। सम्राट् ने उत्सुकतावश कागज पर दृष्टि डाली, तो वे चकित रह गये। कागज में एक ही शब्द को सौ बार लिखा गया था—'सहनशीलता' 'सहनशीलता' 'सहनशीलता' . . . ।

सम्राट् को चकित और अवाक् देखकर ओ-चो- सान ने अपनी काँपती हुई आवाज में कहा, "महाराज ! मेरे परिवार की सौहार्द्रता का रहस्य बस इसी एक शब्द में निहित है। 'सहनशीलता' का यह महामंत्र ही हमारे बीच एकता का धागा अब तक पिरोये हुए है। इस महामंत्र को जितनी बार दुहराया जाए, कम ही है !"

(५) अप्प दीपो भव !

कम्बोज के सम्राट् तिङ-मिङ की राजसभा

में एक दिन एक बौद्ध भिक्षुक आया और कहने लगा, "महाराज! मैं त्रिपिटकाचार्य हूँ। पन्द्रह वर्ष तक सारे बौद्ध जगत् का तीर्थाटन करके मैंने सद्धर्म के गूढ़ तत्त्वों का रहस्यो घाटन किया है। मैं आपके राज्य का पट्ट पुरोहित बनने की कामना से आया हूँ। मेरी इच्छा है कि कम्बोज का शासन भगवान् के आदेशों के अनुसार संचालित हो।"

सम्राट् तिङ-मिङ भिक्षुक की कामना सुनकर किंचित् मुसकराये--"आपकी सदिच्छा मंगलमयी है। किन्तु आपसे मेरी एक प्रार्थना है कि आप धर्मग्रन्थों का एक आवृत्ति और कर डालें।"

भिक्षुक को बड़ा क्रोध आया, किन्तु सम्राट् के प्रति वह अपना क्रोध व्यक्त नहीं कर सका। उसने सोचा, क्यों न एक आवृत्ति और कर लूँ? सम्राट् को रुष्ट कर राजपुरोहित के प्रतिष्ठित पद को क्यों हाथ से जाने दूँ!

दूसरे वर्ष जब वह सम्राट् के सामने उपस्थित हुआ, तो सम्राट् ने फिर कहा, "भगवन्! एकान्त-सेवन के साथ एक बार और धर्मग्रन्थों का पारायण कर लें, तो श्रेयस्कर होगा!"

भिक्षुक के क्रोध की सीमा न रही। अपमान के दंश से पीड़ित दिन भर भटकते भटकते वह सन्ध्या को एक सुनसान नदी-तट पर पहुँचा। ऊपर नीले

आकाश में तारे चमक रहे थे। नियमानुसार उसने सान्ध्य-प्रार्थना की। किन्तु आज की प्रार्थना में उसे बड़ा आनन्द मिला—शब्दों के नये नये अर्थ उसकी चेतना पर जागने लगे। रातभर वह प्रार्थना के आनन्द में डूबा रहा।

साल भर बाद सम्राट् तिङ-मिङ अपनी समस्त प्रजा के साथ करबद्ध उस नदी-तट पर उपस्थित थे। भिक्षुक तन-मन की सुधि भूले आनन्दातिरेक में बैठा था। धर्माचार्य बनने की महत्त्वाकांक्षा भस्मसात् हो चुकी थी। पाण्डित्य के अहंकार का स्थान आत्मज्ञान के आनन्द ने ले लिया था। सम्राट् ने प्रार्थना की, "भगवन्! चलिए, धर्माचार्य के आसन को सुशोभित कीजिए!"

भिक्षुक के अधरों पर मन्द मुसकान बिखर गयी—"राजन्! सद्धर्म उपदेश की नहीं, आचरण की वस्तु है। उपदेश में अहंकार है और आचरण में आनन्द। भगवान् के आदेश बड़े स्पष्ट हैं, वहाँ आचार्य की क्या जरूरत? भगवान् ने एक वाक्य में ही सब कह दिया है—'अप्प दीपो भव'—अपने स्वयं के दीपक बनो!"

●

विवेकानन्द-वन्दना

ब्रह्मचारी श्रीधरचैतन्य

(राग–हमीर : ताल–त्रिताल)

जय जय स्वामि विवेकानन्द ।
जय वीरेश्वर, भ्रमहर भास्कर,
आशुतोष शिव, जय सुखकन्द ।। ध्रु० ।।

त्रिभुवन-पावन नरनारायण,
विमलबोधघन ब्रह्मपरायण ।
भवभयवारण जगदुद्धारण,
नित्यमुक्त, जय गतभवबन्ध ।। १ ।।

युगनायक युगधर्मसहायक,
चित्तप्रकाशक शुभमतिदायक ।
मोहपुंजहर मोक्षविधायक,
वीर धीर निर्भय स्वच्छन्द ।। २ ।।

निद्रितचित्त-प्रबोधनकारी,
मुग्धजीव-जड़ता-परिहारी ।
रामकृष्ण-लीलासहचारी,
नाश करो प्रभु भवदुखद्वन्द ।। ३ ।।

●

पतन का मनोविज्ञान

(गीताध्याय २, श्लोक ६२–६३)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

ध्यायतो विषयान्पुंस: संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोह: संमोहात्स्मृतिविभ्रम: ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

विषयान् (विषयों को) ध्यायत: (सोचते सोचते) पुंस: (मनुष्य की) तेषु (उनमें) संग: (आसक्ति) उपजायते (उत्पन्न होती है) संगात् (आसक्ति से) काम: (चाह) संजायते (पैदा होती है) कामात् (चाह से) क्रोध: (क्रोध) अभिजायते (उत्पन्न होता है)।

"विषयों का चिन्तन करते रहने से मनुष्य के मन में उनके प्रति आसक्ति पैदा होती है । आसक्ति चाह को जन्म देती है और चाह से क्रोध उत्पन्न होता है ।"

क्रोधात् (क्रोध से) सम्मोह: (मोह) भवति (होता है) सम्मोहात् (मोह से) स्मृतिविभ्रम: (स्मृतिशक्ति का लोप होता है) स्मृतिभ्रंशात् (स्मृति के लोप से) बुद्धिनाश: (विचार-बुद्धि का नाश होता है) बुद्धिनाशात् (विचार-बुद्धि के नाश से) प्रणश्यति [मनुष्य ही] (नष्ट हो जाता है) ।

"क्रोध से चित्त में मोह उत्पन्न होता है और मोह से स्मृति में विभ्रम पैदा हो जाता है । स्मृति के लोप से उचित-अनुचित का विचार करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि के नाश से स्वयं मनुष्य का ही नाश हो जाता है ।"

पिछली चर्चा में हमने देखा कि स्थितप्रज्ञता प्राप्त करने के लिए किस प्रकार विषय-रस की निवृत्ति करनी पड़ती है। जब तक अन्त:करण में भोग-सुख का रस विद्यमान है, तब तक बुद्धि का विचलन समाप्त नहीं होता। साधक को चाहिए कि वह इस रस को पनपाने की चेष्टा न करे, बल्कि निर्ममता-पूर्वक उसे सुखाने का ही प्रयास करे। सामान्यत:, मन की दुर्बलता के कारण, हम मन से भोगों के चिन्तन को बडा अपराध नहीं मानते। हम अपनी बुद्धि से ऐसा तर्क उपस्थित कर देते हैं कि मैं शरीर से तो किसी विषय का भोग करने नहीं जा रहा हूँ, यदि मन से उसके चिन्तन के द्वारा थोड़ासा रस ले ही लिया. तो उसमें ऐसी कौनसी हानि है ? इस प्रकार के उठनेवाले प्रश्न का समाधान उपर्युक्त विवेच्य श्लोकों में प्रस्तुत हुआ है, जहाँ यह बताया गया है कि ऊपर से निर्दोष प्रतीत होनेवाला मन का विषय-रस ग्रहण मनुष्य के पूर्णत: नाश का कारण बन सकता है। इन श्लोकों के द्वारा यह भी स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य का पतन अचानक नहीं होता। एक साधक है। वह निष्ठापूर्वक अपनी साधना में लगा दिखायी देता है--सुबह सूर्योदय से पहले उठ जाता है, नियम से अपना उपासना-क्रम समाप्त करता है। अचानक एक दिन देखा जाता है कि वह पथच्युत हो गया, रास्ते से फिसल गया। ऊपर से देखने में तो यही

प्रतीत होगा कि वह हठात् गिर पड़ा है, पर वस्तुतः उसका पतन अकस्मात् नहीं होता। पतन का भी एक क्रम है, उसका एक मनोविज्ञान है। उपर्युक्त श्लोक हमारे समक्ष पतन के इसी क्रम को, मनोविज्ञान को रखता है। साधक के लिए जैसे अध्यात्म-पथ में आगे बढ़ने के सोपानों को जानना आवश्यक है, वैसे ही, बल्कि उससे भी कहीं अधिक, नीचे गिरने के कारणों को जानना जरूरी है, जिससे वह अपनी रक्षा कर सके। दलदल में उगी घास हरीतिका का सुन्दर दृश्य हमारे समक्ष रखती है और हमें एक मैदान का आभास कराती है। पर यदि हम एक कदम उसमें रखें, तो पैर फँस जाता है और उसमें से निकलने की चेष्टा हमें और भी फँसाती जाती है। इसी प्रकार मन से भोगों का चिन्तन करना हमें उतना हानिप्रद नहीं मालूम होता, पर यदि उस पर रोक न लगायी जाय, तो अन्ततोगत्वा बुद्धि हमें विषयों के दलदल में फँसा देती है। शंकराचार्य ने अपने 'विवेकचूड़ामणि' ग्रन्थ में (३२६) नीचे गिरती हुई गेंद का उदाहरण देते हुए समझाया है कि यदि हम सीढ़ी पर फिसलें और अपने को न बचा सकें, तो हमारा उत्तरोत्तर पतन ही होता रहता है। वे लिखते हैं--

लक्ष्यच्युतं सद्यदि चित्तमीषद्
बहिर्मुखं सन्निपतेत् ततस्ततः।

प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः
सोपानपंक्तौ पतितो यथा तथा ॥

——जैसे असावधानतावश हाथ से छूटकर सीढ़ियों पर गिरी हुई खेल की गेंद एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर गिरती हुई नीचे चली जाती है, वैसे ही यदि चित्त अपने लक्ष्य (ब्रह्म) से हटकर थोड़ासा भी बहिर्मुख हो जाता है, तो फिर बराबर नीचे ही की ओर गिरता जाता है।

इसीलिए भगवान् कृष्ण ने ५९वें और ६०वें श्लोक में अर्जुन के माध्यम से हम सबको सावधान किया है कि भोगों के प्रति मन में रस का तनिक भी बना रहना साधक के लिए खतरनाक है। हम साधना में कभी थोड़ा आगे बढ़ जाते हैं। लगता है कि हम कुछ कुछ इन्द्रियजयी हो गये हैं। हम पहले के समान सावधानी बरतने में ढील दे देते हैं। मन से विषय-रस का आस्वादन लेने में हमें कोई जोखिम नहीं मालूम पड़ता। हम अपने घर में नियम से कीर्तन का आयोजन करते हैं। इसमें पुरुषों के साथ महिलाएँ भी भाग लेती हैं। एक प्रकार का सात्त्विक आनन्द हमें ऐसे सामूहिक कीर्तन में प्राप्त होता है। लोग हमारी प्रशंसा करते हैं कि कीर्तन का ऐसा नियमित आयोजन कर हम सबको पुण्य लूटने का सुअवसर दे रहे हैं। महिला-भक्तों में एक ऐसी भी महिला है, जिसे कीर्तन में विशेष

भाव होता है। पहले पहल यह देखकर हमें सात्त्विक सुख की अनुभूति होती है। हमें लगता है कि यदि हम इस प्रकार का आयोजन न करते, तो उस महिला की भक्ति को प्रकाशित होने का अवसर कैसे प्राप्त होता? कीर्तन समाप्त होने पर पहले हमें प्रभु का ही स्मरण बना रहता था, पर अब कुछ दिनों मे हम देखते हैं कि हम कीर्तन के बाद उस महिला की भक्ति की प्रशंसा करते हैं या अकेले रहते हैं तो उसके सम्बन्ध में सोचते रहते हैं। धीरे धीरे हमारा ध्यान प्रभु से हटकर उस महिला की भक्ति पर जाने लगता है और कुछ समय बाद महिला की भक्ति से हटकर महिला पर ही केन्द्रित होने लगता है। ज्योंही हम उस महिला का चिन्तन करते हैं कि वह विषय के चिन्तन की सीमा में आ जाता है। ईश्वर या ईश्वर-सम्बन्धी बातों के सिवाय अन्य किसी का भी चिन्तन विषय का चिन्तन कहलाता है। जब तक हम महिला की भक्ति का चिन्तन कर रहे थे, तब तक हम ईश्वर-सम्बन्धी विचार ही अपने मन में उठा रहे थे, पर जब हम महिला का चिन्तन करने लगते हैं, तो वह विषय का चिन्तन हो जाता है। और जैसे जैसे हम महिला का चिन्तन करते हैं, हमें उसके प्रति एक खिचाव का, आकर्षण का अनुभव होता है। आसक्ति के बढ़ने पर उसके समीप बने रहने की चाह उत्पन्न होती है।

पहले तो उसे देखने से ही सुख का अनुभव होता था, पर उससे सामीप्य की चाह उत्पन्न होने पर इच्छा होती है कि मैं उससे अकेले में मिलूँ। यदि कोई तीसरा व्यक्ति वहाँ उपस्थित रहता हैं, तो हमें क्रोध आता है। यदि हमारी माता या हमारी पत्नी वहाँ किसी काम से मौजूद हो, तो हमें लगता है कि ये जल्दी यहाँ से चली जायँ। यदि हमारा बच्चा प्यार से हमारी गोद में आकर बैठना चाहे, तो उसे भी हम दुत्कार कर भगा देना चाहते हैं। हमारे जो अन्य स्नेही जन हैं, हमें उनकी भी उपस्थिति पर क्रोध आने लगता है क्योंकि हमारी चाह में बाधा पड़ती है। यदि हमारे किसी हितेच्छु ने हमारा उस महिला के प्रति गलत आकर्षण भाँप लिया और यदि वह हमें बचाने के लिए हमारे और उस महिला के बीच बना रहता है, तो हमारा क्रोध उफनने लगता है और वह सम्मोह को जन्म देता है। उससे हमारी बुद्धि पर परदा पड़ जाता है, विवेक कुन्द हो जाता है। फलस्वरूप स्मृति लुप्त हो जाती है। हम भूल जाते हैं कि उस व्यक्ति ने मुझ पर बड़े उपकार किये हैं, वह मेरा अत्यन्त शुभेच्छु है, वह मेरा मंगल ही चाहता है। स्मृति विभ्रमित हो जाती है। उचित-अनुचित का विचार नष्ट हो जाता है और इससे हमारी बुद्धि का ही नाश हो जाता है। हम इतने सम्मोहित हो जाते हैं कि हम किसी की बात नहीं सुनते। यदि गुरुजन हमें समझाएँ कि तुम गलत रास्ते चले

जा रहे हो, तो हमें उन पर क्रोध आता है, हमें ऐसा लगता है कि सभी लोग गलत हैं, एकमात्र हमीं सही हैं। ऐसी मूढ़ता के कारण अन्त में 'प्रणश्यति' ही हमारी नियति बनती है—हम अध्यात्म के मार्ग में पुरुषार्थ के अयोग्य हो जाते हैं।

यह मात्र एक उदाहरण है। ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। किसी की सम्पत्ति के प्रति लिप्सा बनी रहती है। जमीन-जायदाद का चिन्तन बना रहता है और ऐसा चिन्तन मुकदमा-अदालत के चक्कर में डालकर उसका सर्वनाश कर देता है। जब मैं उत्तराखण्ड में समय बिता रहा था, तो मेरे साथ एक संन्यासी रहा करते थे। वे भी युवक थे, सम्पन्न परिवार से आये थे। पिता ने जमीन के रूप में एक बड़ी सम्पत्ति उनके लिए छोड़ी थी। पर उन्होंने संन्यास का जीवन बिताना तय किया। वसिष्ठ गुफा में मेरा उनसे परिचय हुआ था। मुझे वे बड़े अच्छे लगे थे। उत्तरकाशी के पास एक स्थान पर हम दोनों साथ साथ रहा करते। एक दिन उनके पिता की मृत्यु का समाचार आया। वे अपने घर गये और कुछ दिनों बाद लौट आये। पर अब उनकी साधना में विघ्न दिखायी पड़ने लगा। उनके मन में अपनी सम्पत्ति का चिन्तन होता। वे मुझसे कहते कि मेरे भाई मेरी जमीन हड़प लेना चाहते हैं। मैं उन्हें समझाता कि जब आपने सब कुछ छोड़ ही दिया है, तो यह सब क्यों सोचते हैं ?

भाइयों को अपनी जमीन दे दीजिए। "नहीं", वे कहते, 'मैं अपने गाँव के एक मन्दिर को अपने भाग की जमीन देना चाहता हूँ और मेरे भाई लोग रोड़ा अटका रहे हैं। यह तो मैं धर्म का काम ही करना चाहता हूँ।" वे विचलित बने रहते। मैंने कई बार उन्हें समझाया कि जिस उद्देश्य से आप उत्तराखण्ड में निवास कर रहे हैं, उसकी पूर्ति की ओर ध्यान दीजिए, सम्पत्ति का ध्यान छोड़ दीजिए। पर वे ऐसा नहीं कर सके। अन्त में यह कहकर वहाँ से अपने गाँव गये कि मुकदमा करके अपनी जमीन अपने कब्जे में लूंगा और मन्दिर को वह दान में दे फिर यहाँ आकर निश्चिन्त मन से साधना करूँगा। वे मुकदमा जीत भी गये और अपनी जमीन पर कब्जा भी कर लिया पर बीच में उन्होंने संन्यास का बाना छोड़ दिया और वह जमीन मन्दिर को दान में न दे अपनी गृहस्थी बसाकर बैठ गये।

अब, यह गृहस्थी बसाना कोई गलत काम नहीं है। पर इस उदाहरण का तात्पर्य यह बताना है कि विषय का चिन्तन कैसे साधक को धीरे धीरे लक्ष्य से दूर कर देता है और अन्त में उसे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अयोग्य बना देता है। यदि विषय के चिन्तन को प्रारम्भ में ही नष्ट कर दिया जाय, तो पतन का क्रम वहीं रुक जाता है और साधक की रक्षा हो जाती है। जब सीढ़ियों पर गेंद हाथ से फिसली, तो पहली सीढ़ी में

उसे पकड़ना आसान है। यदि उसे तब न पकड़ा जा सका, तो नीचे की सीढ़ियों पर टप्पा खाती हुई उस गेंद को पकड़ना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार मन को यदि उसकी पहली फिसलन में ही पकड़ लिया जाय, तो साधक पतन से बच जाता है। मन की फिसलन को तरह देना मानो उसके पतन के रास्ते को खोल देना है। यही बात उपर्युक्त दो श्लोकों में प्रकट की गयी है।

इसलिए जो बुद्धि की स्थिरता प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें सावधानी रखनी पड़ेगी कि विषयों का चिन्तन मन में न हो। विषयों के सम्बन्ध में विचार करने से जो सुखानुभूति मन में होती हैं, उसे विष समझकर काटने का प्रयास करें। जैसे किसी को खुजली हो गयी। खुजलाना अच्छा तो लगता है, पर उसकी परिणति असह्य जलन और यंत्रणा में होती है। इसलिए विवेकी पुरुष खुजली के खुजलाने पर भी प्रयत्नपूर्वक उसे हाथ लगाने से बचेगा। साधक को इसी प्रकार विषयों के चिन्तन से बचना चाहिए। खुजली को एक बार खुजला देने पर जैसे हाथ को खुजली से हटा लेना बड़ा कठिन है, उसी प्रकार मन से भोग-सुख का रसास्वादन लेने पर वहाँ से उसे हटाना कठिन हो जाता है।

'रामचरितमानस' में 'नारद-मोह' का प्रसंग आता है। यह प्रसंग पतन के मनोविज्ञान का ज्वलन्त निदर्शन है। नारद ने काम को जीत लिया और उसे

क्षमा दे दी। यहाँ तक तो सब ठीक था। पर उन्होंने राम के बदले काम का चिन्तन करना प्रारम्भ कर दिया। राम का चिन्तन करते हुए तो उन्होंने काम को जीता, पर बाद में उनके अन्तःकरण में यही विचार चलता रहा कि मैंने काम को जीत लिया है। नारद को पता था कि काम को जीतनेवाले उनके एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी शंकरजी थे, इसलिए वे शंकरजी को यह बताने चले गये कि आप केवल अपने को ही काम-जयी न समझें, मैंने भी काम को जीता है। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—"जिता काम अहमिति मन माहीं"—नारदजी के मन में इस बात का अहंकार हो गया कि हमने काम को जीत लिया। शंकरजी के बरजने पर भी नारद यही बात भगवान् नारायण को बताना न भूले। तात्पर्य यह कि उन्होंने काम को जीता तो सही, पर अब उसी का चिन्तन चल रहा है। और उसका परिणाम कैसा विकट हुआ, यह 'रामचरितमानस' के पाठक भलीभाँति जानते हैं। नारदजी का विश्वमोहिनी को देखना, तदनन्तर सतत उसका ध्यान करना, फलस्वरूप उसके प्रति आसक्त हो जाना, और फिर उसे पाने की कामना करना, उस कामना में विघ्न पड़ने से उनका क्रोधित होना, क्रोध से उनका सम्मोहित हो जाना, परिणामरूप उनकी स्मृति का विपर्यय हो जाना, इतना कि विवेक पूरी तरह खो बैठना, अपने उपास्य

प्रभु भगवान् नारायण को सामने पाकर भी विवेक के नष्ट हो जाने के कारण उनके प्रति अपशब्दों का प्रयोग करना, यहाँ तक कि उन्हें श्राप भी दे डालना ——यह बुद्धिनाश के ही लक्षण हैं। नारद यह जानते थे कि "मोरें हित हरि सम नहि कोऊ"——श्रीहरि के समान मेरा कोई भी हितू नहीं है, पर स्मृतिविभ्रम के कारण वे श्रीहरि को ही अपना शत्रु मान बैठते हैं। उन्होंने पहले हरि से प्रार्थना करते हुए कहा था ——"जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा"—— 'हे नाथ, जिस तरह मेरा हित हो, आप वही शीघ्र कीजिए। मैं आपका दास हूँ,' पर जब प्रभु उनका हित करते हैं, तो वह उन्हें नहीं सुहाता, क्योंकि वह उन्हें अपनी इच्छा के विपरीत मालूम होता है और वे क्रोध में इतने अन्धे हो जाते हैं कि प्रभु को स्वार्थी और कुटिल कह बैठते हैं—— "स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु"—— 'तुम बड़े धोखेबाज और मतलबी हो, सदा कपट का व्यवहार करते हो।' नारद की बुद्धि यहाँ तक नष्ट हो जाती है। पर उनका नाश नहीं होता, क्योंकि भले ही आवेश में वे प्रभु को खरी-खोटी सुनाते हैं, पर उसके पूर्व उनका यह विश्वास बना हुआ था कि प्रभु ही उनके एकमात्र हितू हैं। प्रभु अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हैं कि "न मे भक्तः प्रणश्यति"—— मेरे भक्त का नाश नहीं होता, इसलिए वे नारद को

नष्ट नहीं होने देते ।

तात्पर्य यह है कि साधक को विषय-चिन्तन से बचना चाहिए। ध्यान ही करना है तो प्रभु का करे, प्रभु से सम्बन्धित विषयों का करे । संसार का चिन्तन यदि अनिवार्य हो, तो प्रभु के सन्दर्भ में, प्रभु से सम्बन्ध लगाकर उसका चिन्तन करे। विषयों के ध्यान से जैसे विषयों के प्रति आसक्ति होती है, वैसे ही प्रभु के ध्यान से प्रभु पर आसक्ति होती है। उससे प्रभु को पाने की चाह उत्पन्न होती है। प्रभु की प्राप्ति में जो विघ्न आते हैं उन पर तब क्रोध आता है ।

अतएव साधक को चाहिए कि वह मन के छल को पहचाने और उससे बचने का प्रयास करे। ऐसी किसी परिस्थिति को उत्पन्न होनें से रोके, जिसमें उसका मन विषयों की ओर खिचता हो । इस सन्दर्भ में भगवान् बुद्ध का अपने शिष्य आनन्द से वार्तालाप उल्लेखनीय है । आनन्द ने तथागत से नारी के साथ संन्यासी के व्यवहार की मर्यादा के सम्बन्ध में पूछा, "भन्ते, हम नारी के साथ कैसा वर्तन करें ?" "उनकी ओर नहीं देखना, आनन्द !" तथागत ने उत्तर दिया। "यदि उन्हें देखना पड़ा, तब किस प्रकार का वर्तन करें, भन्ते ?" आनन्द ने पुनः प्रश्न किया। "उनसे बोलना नहीं, आनन्द !" "और प्रभु, यदि उनसे बोलना पड़ ही गया तब ?" "तब मन को सजग

रखना, आनन्द !" बुद्ध का उत्तर था।

इससे यह गलतफहमी भी नहीं कर लेनी चाहिए कि पुरुष-साधक नारी को घृणा की दृष्टि से देखे अथवा यह कि स्त्री-साधिका पुरुष को छली और कपटी मान उसके प्रति घृणा का भाव पोषित करे। घृणा वर्जनीय है, पर वर्तन में सावधानी अवश्य रखनी चाहिए। अपने मन पर अविश्वास भी न करे, पर साथ ही इतना विश्वास भी न करे कि सामान्य सावधानी की भी उपेक्षा कर दी जाय। इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्णदेव और श्री माँ सारदा की चेतावनियाँ उल्लेखनीय हैं। श्रीरामकृष्ण भक्त पुरुषों को सावधान करते हुए कहते--कितनी भी भक्तिमती महिला हो, पर वर्तन में सदैव कुछ दूरी बनाकर रखना। और श्री माँ नारी-भक्तों से कहतीं--यदि साक्षात् ईश्वर भी पुरुष-रूप लेकर तुम्हारे सामने आए और अनुचित सामीप्य का प्रस्ताव करे, तो उसे न मानना।

इस सबका तात्पर्य यही है कि साधक को विषय-चिन्तन से बचना चाहिए। विषय को एक बार पकड़े तो फिर उसे छोड़ना भी चाहे, तो विषय उसे नहीं छोड़ता। यह बिजली के तार को पकड़ने के समान है। हम यदि गलती से उसे छू लें और अपना हाथ हटाना भी चाहें, तो वह हमें नहीं छोड़ता। 'विषय' शब्द की व्याख्या की जाती है--'विषीयन्ते जना एभिः इति विषयाः'--जो विशेषरूप से लोगों को अपने साथ

बाँध लेते हैं, उन्हें विषय कहते हैं। आचार्य शंकर ने तो विषय को विष से भी भयकर बताया है। वे 'विवेकचूड़ामणि' में (७९) कहते हैं–

दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि ।
विषं निहन्ति भोक्तार द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम् ॥

--'दोष की दृष्टि से विषय तो काले सर्प के विष से भी अधिक तीव्र हैं, क्योंकि विष तो खानेवाले को ही मारता है, परन्तु विषय तो आँख से देखनेवाले को भी नहीं छोड़ते।'

अतएव भगवान् कृष्ण उपदेश देते हैं कि पतन से बचने के लिए पहला करणीय कार्य है--विषयों का चिन्तन न करना। यह मानो फूटते हुए अंकुर को मसल देना है। विषयों के चिन्तन से उत्पन्न होनेवाला पतन का क्रम मानो बीज का वृक्ष के रूप में परिणत होना है। कहीं पर अश्वत्थ का बीज गिरा, वह अंकुरित होकर पौधे के रूप में लहलहाने लगा। हम इस पौधे को कितना भी काटें, वह नष्ट नहीं होता, बार बार उग आता है। जब पौधे को नष्ट करना ही इतना कठिन होता है, तब वृक्ष को नष्ट करना कितना कठिन होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। इसीलिए यदि उसे बीजावस्था में ही नष्ट कर दिया जाय, तो फिर वह हमें परेशान नहीं

करेगा। विषय का ध्यान करना मानो बीज बोना है और उसके प्रति आसक्ति का होना मानो बोए हुए बीज में जल का सिंचन करना है। उससे काम का अंकुर फूटता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह बीज को अंकुरित ही न होने दे। अँगरेजी में इसे कहते हैं—'nipping in the bud' यानी जगते ही कुचल देना।

जब विषय के बीज से काम का अंकुर फूटता है, तब उस विषय को अपने अधिकार में लेने की इच्छा होती है। अधिकार में न आये, तो क्रोध का अनल भीतर में सुलगता है और यदि दूसरे के अधिकार में चला जाये, तो विद्वेषाग्नि हमें सन्तप्त करती है। इस काम और क्रोध को गीता में महापापी बताया गया है, साथ ही महापेटू भी। काम आशा को जन्म देता है और आशा के पूर्ण न होने पर उसकी परिणति क्रोध में होती है। यह आशा भी एक विचित्र जंजीर है। किसी कवि ने कहा है—

आशा नाम मनुष्याणां काचिद् आश्चर्यशृंखला।
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पंगुवत्॥

—उसकी विचित्रता यह है कि उससे बंधा हुआ मनुष्य तो दौड़ता है, पर उससे मुक्त पुरुष पंगु के समान स्थित रहता है। सामान्य शृंखला का फल उलटा होता है। जो उससे बँधता है, वह तो पंगु के समान चुपचाप बैठा रहता है और जो उससे मुक्त

होता है, वह इधर उधर दौड़ता फिरता है। यही आशा-जंजीर का वैचित्र्य है। और यह आशा मनुष्य में सतत काम और क्रोध का संचार करती रहती है। जब मनुष्य में क्रोध की मात्रा अधिक हो जाती है, तो वह सम्मोह में पड़ जाता है। अँगरेजी में इसे infatuation कहते हैं। तब अपना ही दृष्टिकोण सही लगता है बाकी सबका गलत, जैसा कि हम ऊपर विचार कर चुके हैं।

सम्मोह से स्मृति का लोप हो जाता है। हमने इतना शास्त्र पढ़ा, इतना ज्ञान-विचार किया पर बुद्धि में सम्मोह के पैदा होने पर सब कुछ भूल जाता है और वह अन्ततोगत्वा बुद्धि के नाश का कारण बनता है। इसीलिए 'गीता' में काम को 'ज्ञानविज्ञाननाशनम्' कहा है। बुद्धिनाश से पुरुष का नाश हो जाता है। भगवान् शंकराचार्य इस पर भाष्य करते हुए कहते हैं—'प्रणश्यति पुरुषार्थ-अयोग्यो भवति इत्यर्थः'—पुरुष के नाश का तात्पर्य यह है कि विवेक-बुद्धि से हीन हो जाने के कारण वह पुरुषार्थ के अयोग्य हो जाता है।

यह पतन का मनोविज्ञान है। साधक को इसका ज्ञान अवश्यमेव होना चाहिए। बारम्बार इसका चिन्तन हमारे मन को विषयों में जाने से रोकेगा जब तक विषयों में दोष-दर्शन नहीं है, तब तक मन उधर भागता रहेगा। बड़े जोरों की भूख लगी है। सामने बढ़िया खीर की कटोरी रखी हुई है। खाने की

लालसा की तीव्रता की कल्पना की जा सकती है। पर यदि कोई हमें बता दे कि कटोरी की खीर में जहर मिला हुआ है, तो कितनी भी हमें भूख हो, हम उधर दृष्टिपात भी नहीं करेंगे। कोई यदि जबरदस्ती कटोरी हमारे पास लाना चाहे, तो हम उसे दूर ठेल देंगे। इसी प्रकार जब तक यह धारणा मन में दृढ़ नहीं हो पाती कि विषयों में काले सर्प के विष से भी अधिक भयंकर जहर छिपा हुआ है, तब तक मन बारम्बार उनकी ओर जाता रहेगा और उसका नियंत्रण हमारे लिए कठिन हो जायगा।

यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि साधक को विषयों का चिन्तन करने से मना किया गया, काम-क्रोध को दबाने का उपदेश दिया गया, तो क्या इस प्रकार के suppression से, दमन से मानसिक रोग उत्पन्न नहीं हो जाएँगे ? फिर, विषयों के सेवन के बिना क्या कोई मनुष्य रह सकता है ? विषय-सेवन तो अनिवार्य है। प्रश्नकर्ता आधुनिक मनोविज्ञान का हवाला देकर कहता है कि मनोवेगों को दबाने से तरह तरह के मानसिक रोग जन्म लेते हैं, जो भौतिक दवाओं से दूर नहीं होते। आज का मनोविज्ञान मनोवेगों को खुली छूट देने की सलाह देता है। तब गीता का यह उपदेश कहाँ तक सार्थक माना जा सकता है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि आधुनिक मनोविज्ञान का दृष्टिकोण एकांगी है। यह ठीक है

कि मन के आवेगों को दबाने से मानसिक रोग जन्म लेते हैं, पर क्या साथ ही यह भी ठीक नहीं है कि सभी प्रकार के आवेगों को खुली छूट नहीं दी जा सकती ? क्या समाज मनुष्य को यह छूट दे सकता है कि वह अपने मनोवेगों को इच्छानुसार चरितार्थ करे ? क्या इससे समाज की स्थिरता बनी रह सकती है ? दो व्यक्ति यदि विपरीत मनोवेग प्रकट करें, तो उसका प्रतिफल क्या होगा ? अतः आवेगों पर तो नियन्त्रण करना ही पड़ेगा। उन्हें खुली छूट देने की तरफदारी करना भी अन्य प्रकार की मानसिक कुण्ठाओं के जन्म का कारण बनेगा। उन्हें दबाना भी मानसिक कुण्ठाओं को जन्म देना है और उन्हें खुली छूट देना भी। ऐसी दशा में हमारे शास्त्र कहते हैं कि एक तरीका है, जिससे ये अवांछित मनोवेग धीरे धीरे दूर भी हो जाते हैं और किसी कुण्ठा या रोग को जन्म भी नहीं देते। जब तक खीर को मैं खाद्य मानता हूँ, तब तक उसे खाने की लालसा तीव्र रहेगी और खाने से रोकने का प्रयास मुझमें मानसिक दमन से उत्पन्न होनेवाला रोग पैदा कर सकता है। पर यदि मैं जान लूँ कि खीर में विष है, तो क्या लालसा के दमन की आवश्यकता होगी ? बस, यही शास्त्रों का दृष्टिकोण है। फिर शास्त्र यह तो नहीं कहते कि विषयों का सेवन मत करो, वे तो यह कहते हैं कि उनका सेवन किस प्रकार करो। वे suppression

(दमन) का नहीं, illumination (दीप्ति) का पथ हमें दिखाते हैं, जिससे विषयों को छोड़ना नहीं पडता, अपितु विषय ही अपने आप हमसे छूट जाते हैं और इसका उपाय अगले श्लोक में प्रदर्शित हुआ है।

स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में (१३)

"एक भक्त"

(स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्यों में सबसे छोटे थे और भक्तों में 'बाबा' के नाम से परिचित थे। उनके संस्मरण और उपदेशों के लेखक एक भक्त उन्हीं के एक शिष्य हैं और रामकृष्ण-संघ के सन्यासी हैं। ये संस्मरण बँगला में 'स्वामी अखण्डानन्देर स्मृतिसंचय' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख वहीं से गृहीत हुआ है—- स.)

सबेरे नौ बजे की ट्रेन से रानाघाट से एक भक्त अपनी पत्नी के साथ आये और महाराज को प्रणाम कर पास में बैठे। वे लोग दीक्षा लेना चाहते हैं। साथ में महाराज के एक प्रिय शिष्य स—-आये हुए हैं। महिला स- की ही बड़ी बहन हैं। बहुत दिनों से भक्त ने अपनी पत्नी से बाबा की बातें सुन रखी हैं, अब दोनों पति-पत्नी दीक्षा लेने की इच्छा बाबा के पास प्रकट कर रहे हैं।

बाबा कुर्सी पर आराम से बैठकर मठ में अपनी पहली बार दीक्षा देनेवाली बात बतलाने लगे—-"मठ में दक्षिण भारत से एक लड़का दीक्षा लेने के लिए आया था, रेलवे में काम करता था, खूब खर्चा करके आया था। विवाहित था। दादा (महापुरुष महाराज) उस समय बीमार थे। मठ में वे लोग मुझको पकड़ बैठे—-'महाराज, आपको ही देनी पड़ेगी।' मैंने कहा, 'जो कभी नहीं करूँगा सोचा है, क्या वही अब करना होगा ?' स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) जरूर बहुत पहले ही कह

गये थे––भ्रमण के समय बीच बीच में सिखला देते––'ये ये मंत्र हैं और उनके ये ये इष्ट हैं।' उस समय नहीं समझता था कि यह सब वे मुझे क्यों बतला रहे हैं। उसके बाद चिट्ठी में भी लिखते थे––'सिर मुड़वाओ, चेला बनाओ।' तब थोड़ा थोडा समझा। किन्तु विवाहितों को दीक्षा नहीं दूंगा––यह एकदम पक्का कर रखा था।

"इसलिए उन सबकी धर-पकड़ से मठ में मन बहुत खराब हो गया। दोपहर में खाट पर बैठा था, अकेला था––बाद में केशव सेन के घर में ठाकुरजी के द्वारा कही बातें ठाकुरजी ने ही मेरे मन में उठा दीं। मानो स्पष्ट देखने लगा––कमरे भर लोग बैठे हैं और उनके बीच ठाकुर कह रहे हैं 'केशव,.. अब तुम दोनों (पति-पत्नी) भाई-बहन जैसे रहो।' . . . मैंने भी ठीक कर लिया––जितने लोग आएँगे, उनसे मैं भी यही बात कहूँगा। पहले पहले प्रतिज्ञा लिखवा लेता 'भाई बहन जैसे रहेंगे। पर अरे, काजल की कोठरी में रहने पर कितनी ही बचाने की चेष्टा करो कुछ तो कालिख लगेगी ही।"

यह बतलाने के बाद बाबा ने एक बार चारों तरफ देखा। ठीक कुर्सी के पीछे भक्त (लेखक) को मेज पर चिट्ठी-पत्री और 'स्मृतिकथा' लिखते देख कहने लगे, "अच्छा, समझा, यहाँ बैठे बैठे तू गपशप सुन रहा है? इतनी गपशप के बीच क्या लिखना होगा? अभी थोड़ा उस कमरे में जाकर लिख।"

भक्त के उठ जाने पर बाबा ने रानाघाट के भक्तों को और पास में बुलाया, उनसे कुछ पूछा और कुछ कहा। इसके अनन्तर वे लोग दीक्षा के लिए तैयार होने स्नानादि करने गये।

रासपूर्णिमा की संध्या में बाबा नई बच्चागाड़ी में बैठकर मैदान में घूम रहे हैं। थोड़ी देर बाद पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्र का उदय देख चन्द्रमा की तरफ एकटक देखते हुए अपने आप गाने लगे--'चन्द्र बिखेरे ज्योति तुम्हारी।' उसके बाद अस्पष्ट स्वर में और कुछ पंक्तियाँ गायीं। ठण्ड बढ़ती देख सेवकगण गाड़ी विनोद-कुटीर में वापस ले गये।

मैजिक लैन्टर्न ठीक करके स्लाइड्स दिखाये गये। कुछ में स्वामीजी के उपदेश थे, जिन्हें एक सज्जन जोर जोर से पढ़कर सुना रहे थे। सुनकर बाबा बोले, "स्वामीजी की ये बातें sincerely feel (हृदय से अनुभव) करते हो ? 'मेरी कायरता, दुर्बलता दूर करो। माँ, मुझे मनुष्य बना दो'--यह श्रेष्ठ प्रार्थना स्वामीजी ने सिखायी है।"

ठाकुर कैसे और कितने प्रकार से दीक्षा देते थे, यह सब प्रसंग उठा। उसी समय उसका सारांश 'स्मृति-कथा' में लिपिबद्ध कर देने के लिए उन्होंने कहा। एक दिन रानी शरत्सुन्दरी की बहुतसी बातें बतलाकर अन्त में बोले, "साधुओं की जो त्याग-तपस्या होती है, उससे कम त्याग तपस्या उसमें नहीं थी। दरिद्र ब्राह्मण-

कन्या थी, जमींदार की बहू बनी, कम उम्र में ही विधवा हो गयी। अपने हाथों जमींदारी चलाती और जनसेवा करती। साथ ही साथ उसका चलता व्रत, तपस्या, पूजा, पाठ।"

* * *

५–६ लोगों की दीक्षा हुई। पूरे दिन बाबा की तबीयत खराब थी। शाम के समय कह रहे हैं, 'चिट्ठी आते ही समझ जाता हूँ कि क्या आनेवाला है।"

* * *

आज साधुसंग की बहुत सी बातें बतलायीं—कामराज तांत्रिक, मायाराम अवधूत, गम्भीरनाथ, भास्करानन्द, त्रैलंग स्वामी आदि की बातें कहीं। बाद में गंगोत्री की यात्रा और एक गुफा में एक ब्रह्मचारी की तपस्या की बातें बतलाकर अन्त में कहने लगे, "गंगोत्री का जल भेजा था, जिससे स्नान-यात्रा के पूर्व ही वराहनगर मठ में मिल जाय।

"कामराज तांत्रिक ने पूछा, 'क्या चाहते हो?' मैंने कहा, 'न शोचति, न कांक्षति—ऐसी अवस्था कर दीजिए।' उन्होंने करुणभाव से मेरी ओर ताककर कहा, 'मेरी अम्बा को नहीं चाहते? आत्मज्ञान चाहते हो?'

"मायाराम अवधूत ने चार बार चारों धाम किया था। वे बड़े त्यागी, विख्यात महापुरुष थे। गाँव के बाहर डेरा जमाते। एक बार एक सज्जन क कम्बल देने के लिए आया। उन्होंने अपना पुराना

कम्बल दिखाकर कहा, 'कम्बल यह तो है।'

"भास्करानंद काशी में मुझसे खूब स्नेह करते। एक दिन अपने हाथों से खिलाया था।

"त्रैलंग स्वामी के संबंध में ठाकुर ने कहा था, 'विश्वनाथ का अंश है। वे रास्ते में पड़े रहते। उनको एक समय मैजिस्ट्रेट गोबिन साहब के पास पकड़कर ले जाया गया। साहब ने उनका निर्विकार भाव देख उनको छोड़ दिया और आदेश दिया, 'उनको कोई कुछ नहीं कहेगा।' ऊँचे घाट के ऊपर से गंगा में कूद पड़ते और कुम्भक किये हुए पड़ रहते। गरमी में तप्त फुटपाथ पर पड़े रहते और माघ महीने की शीत रात में गले तक गंगाजल में डूबे पड़े रहते। बहुत बड़े योगी थे---शीत-ग्रीष्म, मान-अपमान, भूख-प्यास किसी का होश नहीं रहता था। उनका वह सध गया था--पहले उन्होंने बहुत हठयोग किया था। एक बार एक गरीब बुढ़िया ने उनको गंगा-घाट पर एक हाँड़ी दही दिया। जो भी उनके पास आता, उसे वे थोड़ा थोड़ा दही निकालकर देते। वे लोग भी पैसा-रुपया चढ़ाने लगे। ऐसा करके बहुत सा रुपया जमा हो गया, सब रुपया उस बुढ़िया ने पाया। फिर एक दूसरे दिन एक लालची व्यक्ति ने बहुत रुपया पाने के लालच में उनके पास उसी प्रकार की एक हाँड़ी रख दी। त्रैलंग स्वामी ने बड़ा मजा किया। सबसे पहले जो आदमी आया, उसे एक पैसे में ही पूरी हाँड़ी दे दी!"

दिसम्बर के बीच की बात है। बहरामपुर की संस्कृत-पाठशाला से एक अन्धे पण्डित ने परिचय-आलापादि करने की इच्छा से स्वामी अखण्डानन्दजी को एक पत्र लिखा था। दिन निश्चित करके उनको उत्तर लिख दिया गया। नियत तिथि में वे उपस्थित हुए। उनका नाम था विधिनाथ मुखोपाध्याय--जन्मान्ध थे, दूसरों के द्वारा पढ़ा हुआ सुन-सुनकर उन्होंने प्राय: षड्दर्शन पर अधिकार प्राप्त किया और परीक्षा पास कर उपाधि भी पायी। दूसरे लोग उनसे सुनकर लिख देते। महाराज को प्रणाम करके उठते ही उन्होंने महाराज द्वारा भेजी चिट्ठी शुरू से आखिर तक मुखाग्र सुना दी। बाबा बहुत आनन्दित हुए और स्मृति-शक्ति के सम्बन्ध में उन्होंने दो-एक किस्से सुनाये।

बातचीत के दौरान विधिनाथ पण्डित ने कोई बात कही, जिसके उत्तर में बाबा बोले, "अरे, तुम तो प्रज्ञाचक्षु हो।" थोड़ी देर बाद विधिनाथ ने जिज्ञासा की, "आपने न्याय पढ़ा है? न्याय न पढ़ने से तो वेदान्त समझ में ही नहीं आता।" बाबा कहने लगे, "कहाँ भाई, उस ढंग से तो न्याय नहीं पढ़ा, वेदान्त भी थोड़ा-बहुत पढ़ना पड़ा है। जो कुछ समझने का था, वह जैसा समझाया है वैसा समझा है। फिर सब दर्शन और शास्त्र-व्याख्या आदि तो श्लोक की बहादुरी और वाक्यचातुरी ही है--वाग्वैखरी शब्दझरी पण्डितानां भुक्तये न तु मुक्तये--यह तो शंकर ही कह गये हैं।"

थोड़ी देर बाद शिवप्रसंग उठा । विधिनाथ पण्डित ने शिव-दुर्गा के मिलन सम्बन्धी ४-५ कलात्मक श्लोक कहे और उनकी व्याख्या की। बाबा बड़े आनन्द से सुनने लगे और दो-एक श्लोक लिख लेने को कहा। अन्त में विधिनाथ कहते गये, "फिर आऊँगा, भूलिएगा मत, अकेला नहीं आ सकता हूँ न।"

कुछ दिन बाद गंगातीर के एक अग्निहोत्री वेदशास्त्री ब्राह्मण आये और वेदगान किया तथा बातें कीं। वे आश्रम में वेद पढ़ाएँगे। उनका कहना था--सिर्फ ब्राह्मणों को पढ़ाएँगे, पर हाँ, दूसरे लोग सुन सकते हैं। अन्त में वे नहीं आये, ऐसा लगता है कि अब्राह्मण लोग सुनेंगे यह उनको गवारा न था।

•

"प्रदीप या दीपक का काम है प्रकाश देना; कोई तो उसकी सहायता से रसोई बनाता है; कोई जाली कार्रवाई करता है; और कोई रामायण या अन्य सद्ग्रन्थ पढ़ता है। पर ये सब क्या प्रकाश के गुणदोष कहे जा सकते हैं? कोई तो भगवान् का नाम लेकर मुक्ति के लिए चेष्टा करता है; और कोई वही नाम लेकर चोरी करता है अथवा पाखण्ड रचता है; तो यह सब क्या भगवान् के दोष कहे जा सकते है?"

—श्रीरामकृष्ण

विवेकानन्द जयन्ती समारोह–१९८०

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी का ११८ वाँ जयन्ती-महोत्सव आश्रम के प्रांगण में १५ दिसम्बर १९७९ से लेकर ३० जनवरी १९८० तक निम्नांकित कार्यक्रम के अनुसार मनाया जा रहा है। समारोह का उद्घाटन रविवार, ६ जनवरी १९८० को **अनन्तश्रीविभूषित स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती महाराज** (वृन्दावन) के द्वारा सम्पन्न होगा। कार्यक्रम सबके लिए खुला है, पर प्रार्थना है कि छोटे बच्चों को साथ न लाएँ।

कार्यक्रम

शनिवार, १५ दिसम्बर — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय– "विश्वमानव विवेकानन्द"

रविवार, १६ दिसम्बर — सुबह ८ ॥ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

रविवार, १६ दिसम्बर — सायंकाल ५ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय–"इस सदन की राय में भारत के लिए संसदीय प्रजातंत्र-प्रणाली की अपेक्षा अध्यक्षात्मक प्रजातंत्र-प्रणाली कहीं अधिक उपयोगी साबित होगी।"

सोमवार, १७ दिसम्बर — सायंकाल ६ बजे

माध्यमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

(प्रथम दो श्रेष्ठ प्रतियोगियों को व्यक्तिगत पुरस्कार)

मंगलवार, १८ दिसम्बर — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय– "यदि विवेकानन्द भारत के राष्ट्रपति होते"

बुधवार, १९ दिसम्बर सायकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय—"इस सदन की राय में लक्ष्मी की अपेक्षा सरस्वती का वरदान कहीं अधिक श्रेयस्कर है।"

गुरुवार, २० दिसम्बर सायकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय—"गरीबपरवर विवेकानन्द"

शुक्रवार, २१ दिसम्बर सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्र तियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय—"इस सदन की राय में देश का भविष्य राजनीतिज्ञों की अपेक्षा शिक्षकों के हाथ में कहीं अधिक सुरक्षित रहेगा।"

शनिवार, २२ दिसम्बर सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

* बुधवार ९ जनवरी *

स्वामी विवेकानन्द जन्म-तिथि उत्सव

मंगल आरती, प्रार्थना, ध्यान प्रात: ५। से ६॥ बजे तक

विशेष पूजा, हवन एवं आरती प्रात: ७॥ से १२ बजे तक

सान्ध्य आरती सायंकाल ६ बजे

रविवार, ६ जनवरी सायंकाल ६ बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

प्रमुख अतिथि : अनन्तश्रीविभूषित स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज (वृन्दावन)

विषय—"श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-सन्देश की प्रासंगिकता"

७ जनवरी से १८ जनवरी तक प्रतिदिन { प्रात:काल ८ बजे
सायंकाल ७ बजे

भागवत-प्रवचन

प्रवचनकार : अनन्तश्रीविभूषित स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज

१९ जनवरी एवं २० जनवरी प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

आध्यात्मिक-प्रवचन

प्रवचनकार : (१) राजेश रामायणी

(२) बालयोगी विष्णु अरोड़ा

२१ जनवरी से ३० जनवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

रामायण प्रवचन

प्रवचनकार : पं. रामकिंकरजी महाराज

(भारत के सुविख्यात रामायणी)

*

श्री माँ सारदा देवी का १२७ वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि पूजा सोमवार, १० दिसम्बर १९७९

(मन्दिर में कार्यक्रम)

मंगलारती, प्रात:वन्दना और ध्यान – प्रात: ५। से ६।। बजे

विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती – प्रात: ७।। से १२ बजे

सान्ध्य आरती, प्रार्थना और भजन – सायं ६ से ७ बजे

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा

(सत्सग भवन में)

सोमवार, १० दिसम्बर १९७९ सन्ध्या ७ बजे से

*

श्रीरामकृष्ण देव का १४५ वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि पूजा सोमवार, १८ फरवरी १९८०

(मन्दिर में कार्यक्रम)

मंगलारती प्रात:वन्दना और ध्यान — प्रात: ५। से ६।। बजे

विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती — प्रात: ७।। से १२ बजे

सान्ध्य आरती, प्रार्थना और भजन — सायं ६।। से ८ बजे

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा

(सत्संग भवन में)

रविवार, २४ फरवरी १९८० सन्ध्या ५।। बजे से